ग्रन्थ-संख्या—१५४

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २००८
मू० ३)

मुद्रक
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

श्री जगदीश चन्द्र माथुर की नाट्य-कृतियों से मैं बहुत पहिले से परिचित हूँ। उनके प्रारम्भिक नाटकों में से एक,—'भोर का तारा' रूपाभ में प्रकाशित हुआ था। 'कोणार्क' उनकी अत्यन्त सफल कृति है। हिन्दी में नाट्य-कला की ऐसी सर्वांगपूर्ण सृष्टि मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिली। इसमें प्राचीन, नवीन नाट्य-कला का अत्यन्त मनोरम सामंजस्य है। विषय-निर्वाचन, कथा-वस्तु, क्रम-विकास, संवाद, ध्वनि, मितव्ययिता आदि सभी दृष्टियों से 'कोणार्क' अद्भुत सुथरी संतुलित कला-कृति है। छोटे-छोटे तीन अंकों के भीतर एक विराट् युग के जीवन का स्पंदन-कम्पन गागर में सागर की तरह छलक उठता है। इसके उपक्रम तथा उपसंहार लेखक के अत्यन्त मौलिक प्रयोग हैं जिनमें नाटक की सीमायें एक रहस्य-विस्तार में खो-सी गई हैं। उपक्रम

में आंखों के सामने एक विस्मृत ऐतिहासिक युग का ध्वंसशेष, कल्पना में समुद्र की तरह आर-पार उद्वेलित होकर साकार हो उठता है, जिसकी तरंगों के व्यथा-द्रवित उत्थान-पतन में करुण, विद्रोह-भरा नाटक का कथानक मन की आंखों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है। उपसंहार में नाटक की अमर अमिट अनुगूंज हृदय के श्रवणों में अविराम गूंजती रहती है। इस नाटक का तृतीय अंक अत्यन्त सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। कलाकार का बदला जीवन सौन्दर्य को ही चुनौती नहीं देता, अत्याचारी को भी जैसे सूर्यहीन लोक के अतल अंधकार में डाल देता है। सहनशील विशु तथा विद्रोही धर्मपद में जैसे कला के प्राचीन और नवीन युग मूर्तिमान हो उठे हैं। धर्मपद में आधुनिक कलाकार का विद्रोह ही जैसे व्यक्तित्व ग्रहण कर लेता है। विशु और धर्मपद का पिता-पुत्र का नाता और तत्संबंधी करुण-कथा जैसे इतिहास के गर्जन में मानव हृदय की धड़कन भी घुल-मिल कर नाटक को मार्मिकता प्रदान करती है। आज के राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष के जर्जर युग में कोणार्क के द्वारा कला और संस्कृति जैसे अपनी चिरंतन उपेक्षा का विद्रोहपूर्ण संदेश मनुष्य के पास पहुंचा रही हैं।

श्री माथुर को मैं उनकी इस उत्कृष्ट नाट्य-कृति के लिए हार्दिक बधाई देता हूं। आशा करता हूं, भविष्य में वह इसी प्रकार अपनी विशिष्ट देन से हिन्दी-साहित्य के इस अंग को शक्ति तथा गौरव प्रदान करते रहेंगे।

—श्री सुमित्रानन्दन पंत

विषय-क्रम

परिचय

ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य और कलापूर्ण मन्दिर का निर्माण हुआ जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षी रूप खड़े हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर, सूर्य देवता का देवालय, कोणार्क में स्थित है। कोणार्क के देवालय के विषय में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य विचारणीय हैं। एक तो यह कि मध्य-कालीन उड़ीसा के मन्दिरों की परम्परा में यह अन्तिम भवन है। इसके बाद न जाने कैसे और क्यों उड़ीसा में उस कोटि और शैली के मन्दिरों का बनना ही बन्द हो गया और मानो शिल्पियों के कुल ही तिरोहित हो गये। दूसरे, उस परम्परा के मन्दिरों में स्थापत्य,

कल्पना और कला की विविधता में यह मन्दिर पराकाष्ठा का द्योतक है, मानो वह शैली कोणार्क के निर्माण में अपनी चरमावस्था को पहुँची। तीसरे, जहाँ अन्य मन्दिर पुरी और भुवनेश्वर जैसे नगरों में बनाये गये कोणार्क के लिये ऐसा स्थान चुना गया जिसके आस-पास दूर तक आबादी नहीं थी। पुरी से १९ मील दूर समुद्रतट पर यह मन्दिर स्थित है। चौथे, इस मन्दिर के उपपीठ पर अंकित युगल मूर्तियाँ आधुनिक विचार से अत्यन्त अश्लील हैं और उनका उद्देश्य समझ में नहीं आता। पाँचवीं और अत्यन्त रहस्यपूर्ण बात यह है कि मध्यकालीन उड़ीसा का अन्य कोई मन्दिर इस खंडित और भग्नावस्था में नहीं है, यद्यपि यही सब के बाद में बना। मन्दिर का मुख्य अंश (विमान) टूटा पड़ा है और कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि मन्दिर कभी व्यवहार में लाया ही नहीं गया। मन्दिर का मुख्य भाग इस समय पत्थरों का ढेर है। उसका नट-मन्दिर भी धराशायी है। विशाल प्रांगण में ध्वस्त मूर्तियाँ और पाषाण-खंड पड़े हैं। केवल बाकी है विमान से सटा हुआ जगमोहन यानी मंडप जो एक विस्तीर्ण मेधि पर दीपक की अकेली लौ की भाँति खड़ा है।

मन्दिर क्यों टूटा—इस विषय में उड़ीसा में एक किम्वदन्ती प्रचलित है जिसे अंशतः ही मैंने अपने नाटक का आधार बनाया है। इतिहास का सहारा भी मैंने अल्प मात्रा में ही लिया है; फिर भी इस नाटक को पूर्णतया अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता। गंगवंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंहदेव का उड़ीसा में राज्यकाल ईस्वी सन् १२३८ से १२६४ तक माना जाता है और कुछ जागीरों के लेख-पत्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि नरसिंहदेव ने ही कोणार्क का निर्माण कराया। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि नरसिंहदेव ने बंग-प्रदेश में मुसलमान सूबेदारों को पराजित किया और गौड़ तक अपनी सेना को ले जाकर अनेक वर्षों तक बंगप्रदेश में वे यवनों से लड़ते रहे। नरसिंहदेव के दरबार के प्रसिद्ध कवि विद्याधर ("साहित्य दर्पण" के रचयिता) ने अपनी अलंकार शास्त्र की पुस्तक "एकावली" में नरसिंहदेव को "यवनावनिवल्लभ" कह कर सम्बोधित किया है। नरसिंहदेव के मंत्रियों में प्रमुख थे पूर्वीय चालुक्य-

वंश के राजराज । यह वात श्रीकूर्मम् के एक लेख से प्रमाणित होती है ।

मैं अपने उड़िया मित्रों से एक धृष्टता के लिये क्षमा-याचना करता हूँ । जिस लोकप्रिय किम्त्रदन्ती के आधार पर उड़िया में श्री गोपवन्धुदास के खंड-काव्य "धर्मपद", कार्तिक घोष के नाटक और अन्य रचनाओं का प्रणयन हुआ, मैंने उसका रूप इस नाटक में इतना वदल दिया है कि शायद वे उसे पहचान भी न पायें, और रुष्ट भी हों कि क्यों मैंने एक ललित और करुण रस से पगी कहानी को इस रौद्र रूप में प्रदर्शित किया है । मैं अपना अपराध सहज ही स्वीकार करता हूँ । मुझे उस किम्वदन्ती के करुण लालित्य ने आकृष्ट अवश्य किया किन्तु जिस विशाल और पुष्ट कल्पना का कोणार्क मन्दिर परिचायक है और जिस संघर्ष-प्रधान युग में उसका निर्माण हुआ—उसके मुकाविले में मुझे उड़िया किम्वदन्ती के भावुक और विवश नायक-नायिका क्षीण जँचें । प्रणय की अठखेलियों और भाग्य के थपेड़ों के आधार पर कोणार्क के खंडहरों का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ । मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है कोणार्क के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो। चिरन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरुष को मैंने वाणी देने की धृष्टता की है । किन्तु जब रूमानी कहानियों में वादल छूने वाली कल्पना पर आप प्रतिवन्ध नहीं लगाते तो कलाकार के मानस में कुण्डली मार कर सोये, पौरुष-नाग की अनाहत फूत्कार की जो कल्पना मैंने की है उसे समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि कह कर ही न दुतकार दें । यह सही है कि व्यक्तिगत वैषम्य के साथ समाजिक समस्याओं का गंठवन्धन मैंने किया है। किन्तु इन दोनों के परे यूनानी दुःखान्त नाटक की-सी भग्न रागिनी की प्रेरणा मुझे कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन में मिली है और यह नाटक उसी का प्रतीक है ।

× × ×

परिशिष्ट में हिन्दी नाटच साहित्य और रंगमंच की गति-विधि और भविष्य पर जो विचार मैंने प्रकट किये हैं उनका "कोणार्क"

के वस्तु-विषय और रूप-रेखा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि "कोणार्क" पहले लिखा गया और यह निबन्ध बाद में । किन्तु दोनों प्रयास एक ही यज्ञ के लिये आहुतिस्वरूप होने के कारण असंगत न माने जायेंगे । पटना कालेज की साहित्य परिषद् में छात्रों, अध्यापकों और अन्य विद्वानों के सामने जब मैंने इस निबन्ध को पढ़ा तो मुझे लगा कि शायद मेरे शब्दों ने श्रोताओं को इस विषय पर गम्भीरता-पूर्वक सोचने के लिये मजबूर किया । उसी उद्देश्य से यहाँ भी यह निबन्ध दे रहा हूँ । आशा है विद्वान् पाठक मेरी निश्चयात्मक उक्तियों के बावजूद इसे पढ़ने का कष्ट उठायेंगे । मैंने जो कुछ लिखा है उस पर रंगमंच और नाटय-लेखन के तजुर्बे की छाप है, शास्त्रीय अध्ययन की नहीं । लेकिन शास्त्र के दामन पर तजुर्बे के दाग न पड़ें तो वह दामन नहीं पताका बन कर रह जायेगा । हमें तो दामन की जरूरत है, पताका की नहीं ।

—जगदीश चन्द्र माथुर

शिल्पीप्रवर
उपेन्द्र महारथी को

"..
कला की जोत; अटल विश्वास
जगाये, खँडहर सोता है।"

पात्र

विशु	: उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी और कोणार्क का निर्माता
धर्मपद	: एक प्रतिभाशाली युवक शिल्पी
नरसिंहदेव	: उत्कल-नरेश
राजराज चालुक्य	: उत्कल-नरेश का महामात्य
मुकुन्द	: विशु का मित्र और प्रौढ़ शिल्पी
राजीव	: मुख्य पाषाण-कोर्त्तक
शैवालिक	: चालुक्य का दूत
महेन्द्रवर्मन	: नरसिंहदेव का रहस्याधिकारी
भास्कर, गंगाधर	अन्य शिल्पी

प्रतिहारीगण

सैनिक

उपक्रम और उपसंहार में नेपथ्य से तीन स्वर

काल :

ईसवी सन् १२६० के लगभग

स्थान :

प्रथम अंक	: कोणार्क मन्दिर में विशु का कक्ष।
द्वितीय अंक	: वही।
तृतीय अंक	: मन्दिर के गर्भगृह से सटा अन्तराल।

[*अभिनय और निर्देशन के संकेतों के लिए देखिए परिशिष्ट; और* रंगमंच और वेश-भूषा के लिए पुस्तक में दिये गये चित्र।]

उपक्रम

[झीने अन्धकार में पर्दे पर कोणार्क के खण्डहर की हल्की झलक दीख पड़ती है। सम्मिलित वाद्यों का स्वर। उस संगीत की अन्तिम ध्वनियाँ ऐसी हैं जैसे सागर की लहरों का अनवरत, न थकने वाला, सृष्टि की व्यंग्यमयी वेदना से परिपूर्ण रुदन। और उन्हीं ध्वनियों में से तीन स्वर नेपथ्य से सुनाई पड़ते हैं, मानो लहरें कथा सुनाती हों।]

पहिला स्वर—

(नन्हीं लहर)

दूर वह खँडहर सोता है,
पूरबी सागर के तट पर

सुनातीं अगणित अथक लहर
लोरियाँ जिसको निशिवासर
रेत की सेज सँजोए क्लान्त
मौन वह खँडहर सोता ह ।

दूसरा स्वर—

(आकुल तरंग)

साँझ का सोने-सा बादल;
डूबते सूरज की बेकल
साँस-सा चंचल, पर निश्चल,
अधूरे सपने-सा अभिराम
कौन वह खँडहर सोता है ?

(थोड़ा विराम। मन्द और करुण वाद्य स्वर। और फिर—)

तीसरा स्वर—

(गम्भीर, मन्थर, हिल्लोल)

लेकिन एक दिन,....

बहुत दिन हुए,....वह सपना पूरा हुआ था ।
सात सौ वर्ष पहले की बात ।........
उड़ीसा प्रदेश में परम पराक्रमी महाराज नरसिंहदेव का राज्य है ।

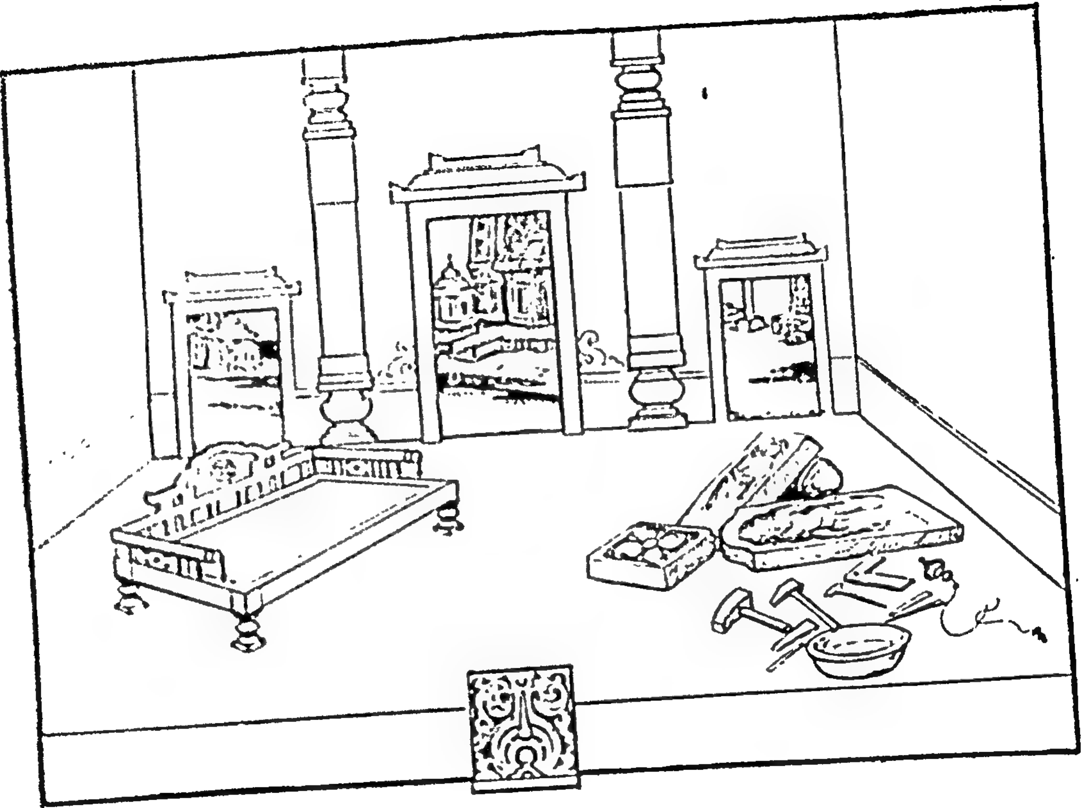
और उनका मुख्य स्थपति है महाशिल्पी विशु, जिसने एक के बाद एक चार अद्भुत मन्दिरों का भुवनेश्वर में निर्माण किया ।......
फिर भी राजा की कामना और शिल्पी की साधना पूरी न हुई ।

और अब महाशिल्पी विशु की निखरी हुई कल्पना का अनुपम चमत्कार—

भगवान सूर्य का जगमगाता हुआ पुण्यधाम—
कोणार्क—
पूर्वी सागर के तट पर उदय हो रहा है।
बारह सौ शिल्पियों और मजदूरों की बारह बरस की
लम्बी साधना और कठोर मेहनत के बाद
विशु की विराट् कल्पना साकार हो चली है।
हाँ......विराट् कल्पना !
पाषाण का एक विशाल रथ—
सैकड़ों गज लम्बी चौड़ी है जिसकी पिष्ठ,
दुर्ग-प्राचीर से वृहद हैं जिसके बारह चक्र,
और गिरि से विपुल हैं जिसके सात भव्य घोड़े!
और मन्दिर के भीतर है एक अनोखा चमत्कार—
सूर्य भगवान की जाज्वल्यमान मूर्ति, चुम्बक पत्थर के
आकर्षण से, निराधार, शून्य में, लटकी हुई है!

...हाँ, विराट् कल्पना साकार हो चली !
लेकिन मन्दिर का शिखर पूरा होना बाकी है।
सारे उत्कल की आँखें कोणार्क पर हैं।
कब उसका शिखर पूरा होगा ?
कब उस पर केसरी पताका फहरायेगी ?
कब ?............कब ?

(मौन। संगीत क्षणिक उठान के बाद बन्द हो जाता है। अन्धकार विगलित हो रहा है। और पर्दा उठता है।)



महाशिल्पी विशु का कक्ष
(प्रथम और द्वितीय अंक)

प्रथम अंक

[एक कक्ष का भीतरी भाग। मन्दिर की विशाल चहारदिवारी के भीतर मुख्य मन्दिर से लगभग पचास गज दक्षिण-पूर्व की ओर एक भोग मन्दिर था। यह कमरा उसी में स्थित है और मन्दिर के निर्माण के दिनों में महाशिल्पी विशु का निवास स्थान है। सामने तीन द्वार हैं; जिनमें से बीच वाले को छोड़कर बाकी दोनों खिड़की जान पड़ती हैं। खिड़की के बराबर स्तम्भ हैं। खिड़कियों और सामने वाले द्वार में से मुख्य मन्दिर और जगमोहन की झलक दिखाई पड़ती है—पूरी झलक नहीं सिर्फ मेधि से ऊपर और छत्र से नीचे का अंश जिसपर अंकित कुछ सुन्दर मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मन्दिर की यह झलक जितनी सजावटपूर्ण है उसकी अपेक्षाकृत महाशिल्पी का निवास-स्थान,

यह कमरा अत्यन्त सादा और अलंकार-विहीन है। इधर उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तियाँ पड़ी हैं। कुछ पाषाण-खंड रखे हैं जिन पर की गई खुदाई नजर पड़ रही है। कुछ छेनियाँ और अन्य औजार भी पड़े हैं। बायीं खिड़की के पास एक लम्बी चौकी रखी है जिसके सिरहाने की तरफ लकड़ी की ऊँची पीठ है जैसी कि अक्सर प्राचीन सिंहासनों में हुआ करती थी। चौकी पर एक सादा कालीन बिछा है। चौकी पर भारी चिन्तित अवस्था में बैठे हैं महाशिल्पी विशु। उनके हाथ चौकी की पीठ पर हैं और हाथों पर ठुड्डी है। हमें उनका पूरा मुख नहीं दीख पड़ता क्योंकि उनकी दृष्टि बीचवाले द्वार में होती हुई मुख्य मन्दिर पर पड़ी हुई है। कमरे में आने का एक द्वार दाहिनी तरफ भी है और इस दृश्य में अधिकतर अभिनेता इसी द्वार से आते-जाते हैं। इस समय इस द्वार के निकट कोणार्क के प्रधान पाषाण-छीलक राजीव खड़े हैं। ऐसा मालूम होता है कि अभी बाहर से आये हैं और उन्होंने कुछ कहना समाप्त किया है। दाहिनी खिड़की से सटा हुआ जो स्तम्भ है उसका सहारा लिये हुये खड़े हैं, विशु के पुराने और अन्तरंग बन्धु मुकुन्द जो स्वयं मन्दिर के प्रमुख शिल्पियों में से हैं।

वार्तालाप के बीच में कभी-कभी मन्दिर की तरफ से पत्थर पर खुदाई की आवाज आती है जिससे मालूम होता है कि काम जारी है।]

विशु—तब ? आखिर कब हम अमलक के ऊपर शिखर को स्थापित कर पायेंगे ? आज दस रोज हो गये केवल इसी के कारण मूर्ति का प्रतिष्ठापन नहीं हो रहा है। (राजीव की ओर मुँह करके) राजीव तुम कहते हो कि तुमने पत्थर के अधोअंश को और हल्का कर दिया ?

मुकुन्द—वे सब जोड़ तो तुम्हीं ने अपने हाथों से स्थापित किये थे, विशु !

विशु—जानता हूँ। लेकिन मन्दिर की महती कल्पना मेरी बुद्धि के परे हो चली है। मुझे न मालूम था कि सूर्यदेव के जिस विशाल वाहन का स्वप्न में देखा करता था वह सच्चा होते-होते इस पार्थिव धरातल से उठकर भगवान भास्कर के चरण छूने के लिये उतावला हो उठेगा।

राजीव—राजनगरी के ज्योतिषी भानुदत्त का कहना है......

मुकुन्द—उँह ऐसी सारहीन भविष्य वाणियाँ विश्वास के योग्य नहीं।

विशु—ज्योतिषी क्या कहता है, राजीव ?

मु०—(बीच में ही) कहता है कोणार्क देवालय ज्योंही पूरा होगा त्योंही इसके पत्थरों में पंख लग जायँगे और सारा मंदिर आकाश में उड़ जायगा......ह, ह, ह।

विशु—(विचारपूर्ण मुद्रा) ज्योतिषी के वचन निरर्थक नहीं हैं, बन्धु। जानते हो, हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। (सोत्साह) वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगन्ध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन......लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से।...मुझे लगता है जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश में भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।

मु०—पृथ्वी और आकाश के संघर्ष की बात फिर सोचना विशु! उत्कल के पृथ्वीपति की क्रोधाग्नि झेलने का भी कोई प्रबन्ध किया है?

वि०—महाराज श्री नरसिंहदेव की क्रोधाग्नि? उसे तो करुणा की फुहारें क्षण भर में शान्त कर देती हैं।

मु०—लेकिन वही फुहारें जब गर्म तवे पर पड़ती हैं तो उसकी जलन और भी बढ़ जाती है और फुहारें छू-मन्तर हो जाती हैं।

वि०—तुम्हारा मतलब?

मु०—उत्कल-नरेश का क्रोध चाहे क्षणिक भले ही हो, लेकिन महामात्य राजराज चालुक्य उसे प्रज्वलित रखते हैं और उन्होंने दया से पसीजना नहीं सीखा है।

वि०—महामात्य चालुक्य राज्य के सब कुछ नहीं हैं। हमें उनसे इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।

मु०—तुम भ्रम में हो, बन्धु! तुम और हम लोग राजनगरी से दूर, यहाँ सागर के किनारे बारह बरस से एकान्त में कला की साधना कर रहे हैं, लेकिन उत्कल की राजधानी में जो उलट-फेर हो रहे हैं उनके विषय में हम कोरे हैं। महाराज नरसिंहदेव तो वंगप्रदेश में यवनों को पराजित करने में लगे हैं किन्तु उत्कल का शासन तो महामात्य के हाथ में है।

रा०—तात, दूर-दूर से आने वाले शिल्पी, महामात्य द्वारा किये गये अत्याचारों के समाचार लाते हैं। उनमें से कितनों ही के कुटुम्बों पर महामात्य के अन्याय का हथौड़ा पड़ चुका है। दिन-प्रति-दिन तरह-तरह की आशंकाजनक खबर आ रही हैं।

मु०—सुना है अब तो महादण्डपाशिक के सब अधिकार भी उन्होंने हथिया लिये हैं।

रा०—तब तो सारे दण्डपाशिक* सैनिक उनके आधीन होंगे।

मु०—वही तो। राज्यसेना तो वंगप्रदेश में यवनों से लड़ रही है और इधर दण्डपाशिक सैनिकों के बल पर महामात्य की शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है।

वि०—अरे भाई, हम शिल्पियों की तो दुनिया ही अलग है।

रा०—धर्मपद तो यह बात नहीं मानता। आज ही वह विराम के पहले मुझ से कह रहा था—

मु०—धर्मपद कौन?

रा०—एक किशोर शिल्पी। हाल ही में आया है। आयु तो अल्प ही है—शायद १८ वर्ष भी नहीं किन्तु बुद्धि तीक्ष्ण। आप से मिलना भी चाहता है।

वि०—क्यों?

रा०—साफ़ नहीं बताता। विचित्र जीव है। कभी तो मौन हो मन्दिर के कलश की ओर निर्निमेष देखता रहता है और कभी अल्प समय में ही चमत्कारपूर्ण मूर्तियाँ तैयार कर देता है। कीर्तिस्तम्भ पर गायकों के रूप उसी ने उत्कीर्ण किये हैं।

वि०—एक १८ वर्ष के किशोर ने? राजीव, मैं उससे मिलूँगा।

रा०—कहिये तो अभी बुला लाऊँ? तात, उसकी ओजमयी वाणी में आपको विस्मृत विद्रोह का ताप मिलेगा।

वि०—शिल्पी को विद्रोह की वाणी नहीं चाहिये, राजीव! मेरी कला में जीवन का प्रतिबिम्ब और उसके

---

* तत्कालीन पुलिस

विरुद्ध विद्रोह दोनों सन्निहित हैं। तुम उस किशोर को बुला लाओ। मेरी दृष्टि के स्पर्श से उसकी प्रतिभा की गंध जागृत होकर उसकी वाणी को मौन कर देगी। मुझे उसकी कला चाहिये।

(राजीव का प्रस्थान)

वि०—तुम चुप हो मुकुन्द।

मु०—हाँ उस किशोर के लिये तुम्हारी आतुरता ने मुझे उद्विग्न कर दिया है।

वि०—बन्धु, नये शिल्पी की प्रतिभा ही तो मेरी प्रेरणा है।

मु०—किन्तु आज तुम्हारी आतुरता के पीछे विवश कर है विशु महाराना* की विवशता मुझे चिन्तित किये देती है।

वि०—(कुछ रुक कर) सच है, मुकुन्द! मेरे हाथों की बेवसी मुझे अक्षम बना रही है और पूंजीहीन व्यापारी की भाँति मैं दूसरे का मुँह तक रहा हूँ।...क्या मेरी कला मेरे सपनों को, अधूरा ही रखेगी, मुकुन्द ?

मु०—असम्भव! महाशिल्पी विशु अपने को भूल रहा है। भूल रहा है, कैसे उसने भुवनेश्वर में अनन्त वासुदेव मन्दिर के जगमोहन को पूरा किया था; भूल रहा है; कैसे स्वर्गीय महाराज अनन्त वर्मन देव के दरवार में विद्युत् की भाँति उसके हस्त-कौशल ने सब को चकाचौंध कर दिया था!

वि०—(स्मृति को रज्जु पकड़ते हुये) वे पुरानी बातें हैं।

मु०—उन्नीस-बीस वर्ष पहले की चर्चा को मैं पुरानी नहीं मानता। मुझे तो आज की-सी बात याद है; तुम्हारा

* 'महाराना' शब्द उड़ीसा में शिल्पी के लिए व्यवहृत होता है।

महाराज के राज्य दरवार में भीत हृदय और मौन लालसा का भार लिये आना—

वि०—(सावेश) ठहरो।

मु०—(निकट जाकर उसके कन्धे पर हाथ रखता हुआ) तुम बहुत उद्विग्न हो विशु !

वि०—तुमने अचानक ही एक भूली अन्धेरी कोठरी में प्रकाश की किरण डाल दी।

मु०— वही मैं चाहता हूँ। तुम्हारे भूले यौवन, भूले उत्साह, भूली प्रेरणा को ज्योतित करना जिससे कोणार्क अधूरा न रहे।

वि०—भूले यौवन की वह ज्योति एक झुलसा देने वाली लपट का परिणाम थी मुकुन्द ! उस आग को पुनः प्रज्वलित कर सकोगे ?

मु०— आग ?

वि०—हाँ ? उद्दाम और उच्छृङ्खल प्रेम की आग जो एक दिन मेरा परिधान बन गयी थी ; उसी परिधान का वियोग मेरी कला का उद्गम हुआ, और मेरे हाथों का पत्थर उसी ताप से मुलायम हो कर साकार सौन्दर्य हो चला। आज वह गर्मी कहाँ जो पत्थर को पिघला दे ?

मु०—कोणार्क की सिद्धि के लिये हम तुम्हारी प्रेयसि को यहीं ले आयेंगे।

वि०—चन्द्रलेखा को ? असम्भव।

मु०—चन्द्रलेखा ! कितना सुन्दर नाम है।

वि०—यही नाम मैंने उसे दिया था क्योंकि उसका जंगली नाम मुझे भाता ही नहीं था।

मु०—जंगली ?

वि०—हाँ, मुकुन्द, वह एक जंगली युवती थी। शवर-किशोरी। हमारे नगर में हाट के दिन अपने गाँव वालों के संग जंगली छाल, जड़ियाँ इत्यादि बेचने आती।

मु०—और तुम—आर्य नागरिक के पुत्र—उसपर मुग्ध हो गये। खूब !

वि०—वह वन की कली थी। चट्टान को फोड़ कर बहने वाली निर्द्वन्द, निष्कलुष जलधारा। मदभरे पावस-सी उन्मत्त, पुष्पावृत्ता, कामिनी-सी सम्पन्न।

मु०—(किञ्चित् मुस्कराहट) हूँ।

वि०—उसके प्रेमपाश में मेरे सुनहरे सपनों के लिये घोंसला मिल गया और हम दोनों स्वर और ताल की भाँति एक दूसरे पर रीझ गये।

मु०—जब वह रागिनी टूटी तभी तुम्हारी कला प्रस्फुटित हुई विशु !

वि०—हाँ। उस भग्न रागिनी का विषाद मेरी कला का वैभव था। यदि चन्द्रलेखा से वियोग न होता तो शायद मेरी कारीगरी सोयी पड़ी रहती। किन्तु अब लगता है उस वियोग के पन्थ से भटक गया हूँ।

मु०—शायद बीस बरस बाद मिलन की घड़ी में तुम्हारी गुप्त व्यथा जगे।

वि०—मिलन ? वह मेरा मुँह भी देखना नहीं चाहेगी।

मु०—क्यों ?

वि०—तीस वरस हुये जब मैं उसे छोड़ कर भागा तब वह माँ बननेवाली थी।

मु०—विवाह से पहले ही ?

वि०—हाँ, मुकुन्द। वह मेरे कायरपन की कथा है। जब मैंने यह सुना तो उसे अपनाना तो दूर रहा मैं उससे दूर भागा। नदी पर बढ़ते साँझ के अन्धेरे की तरह मेरी बुद्धि पर तन्द्रा छा गई और मैं चला आया—चन्द्रलेखा और उसकी अजात सन्तान से दूर—बहुत दूर—भुवनेश्वर में, देवमन्दिरों की छाया में, कला के आंचल में, अपना मुँह छिपाने।

मु०—विशु महाराना की सन्तान शवरों के बीच में ?

वि०—देखते हो यह भुजबंध (भुजा पर बँधे काले पत्थरों के बंध को दिखाता है) उसी ने दिया था और मैंने भी उसे गले में बाँधने के लिये अपने हाथों से लकड़ी पर गढ़ कर कामदेव की प्रतिमा दी थी।

मु०—विशु, कोणार्क को पूरा कर के तुम चलो शवर अटीविका और चन्द्रलेखा और अपनी सन्तान को खोज निकालो। वही तुम्हारा प्रायश्चित्त होगा।

वि०—मुकुन्द, यदि कोणार्क पूरा न हुआ तो मैं उसे तोड़ दूंगा।

मु०—इस विशाल भवन को तो भूकम्प ही गिरा सकता है, या काल।

वि०—नहीं मुकुन्द। एक रहस्य तुम नहीं जानते। सूर्य भगवान् की मूर्ति निराधार स्थित है, चुम्बक के

आकर्षण से। यदि मैं चुम्बक को हटा दूँ तो यह विशाल मूर्ति धराशायी होगी और—

[राजीव का प्रवेश। साथ में एक और युवक। आयु लगभग १८ वर्ष। साँवला रंग। उसके दृढ़ कपोल, तेजोमयि, आंखें, घुंघराले बाल घोषित करते हैं कि वह असाधारण वृत्ति का व्यक्ति है। तंग अंगरखा और ऊँची धोती पहने है। राजीव के पीछे-पीछे आकर द्वार के निकट खड़ा होता है। जब विशु से बातें करता है तब उसकी दृष्टि मानो विशु की काया के नीचे अन्तर्हित किसी पुरातन विशु को खोजती है।]

राजीव—आचार्य यही वह युवक है—धर्मपद।

वि०—तुम। (धर्मपद प्रणाम करता है) सुना है तुम आशु-शिल्पी हो। इतनी छोटी आयु में तुम्हें किस गुरु ने दीक्षा दी?

धर्म०—किसी ने नहीं आचार्य। मैं शिल्पी बना क्योंकि मुझे जीवित रहना था।

वि०—कला तुम्हारा जीवन है, यही न?

धर्म०—कला मेरे जीवन का साधन है। मैं उससे अपना पेट भरता हूँ, भरण-पोषण करता हूँ।

वि०—वह सारे जीवन का प्रतिबिम्ब है। देखो हमारे कोणार्क देवालय को आँखें भर कर देखो। यह मन्दिर नहीं सारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियाँ इसके स्तम्भों, इसकी उपपीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो, उनमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनायें, मनोरंजन और मुद्रायें चित्रित हैं। यही तो जीवन है।

धर्म०—क्षमा करें आचार्य, शृङ्गार-मूर्तियों को देखते-देखते मैं अघा गया हूँ।

मु०—अभी से ? हं हं ! तुम नौजवान हो, किसी रमणी के सामने यह बात न कह देना, नहीं तो तुम्हें अविवाहित रहना पड़ेगा।

वि०—(गम्भीर होकर) तो तुम उन लोगों में से हो जो इन प्रणय-मूर्तियों में अश्लीलता देखते हैं, जीवन का आदि और उत्कर्ष नहीं ?

धर्म०—जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है—जीवन का संघर्ष। अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस संघर्ष को भूल गई है। जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुये किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की ! ......इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य !

वि०—लेकिन कला नहीं। कला की पूर्ति चयन में है—छाँटने में। जंगल में तरह-तरह के फूल, पौधे, वृक्ष चाहे जहाँ उगे रहते हैं, लेकिन उपवन में माली छाँट-छाँट कर सुन्दर और मनोमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।

धर्म०—छाँटने वाली आँखों का खेल है आचार्य। आज के शिल्पी की आँखें वहाँ नहीं पड़तीं जहाँ धूल में हीरे छिपे पड़े हैं।

रा० —मैं ठीक कहता था न, तात, धर्मपद तर्क-निपुण है ?

धर्म०—मैं तर्क करने नहीं आया हूँ। मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ जो कि आपके

निकट होते हुये भी आपकी आँखों से ओझल हो गया है। इस मन्दिर में बरसों से १२०० से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है; कइयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ा है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।

वि०—तुम समझते हो कि हम लोगों को यह सब मालूम नहीं है ? लेकिन राज्य की बातों में पड़ना शिल्पियों के लिये अनुचित है।

[बाहर दाहिनी ओर कुछ हलचल, मानो दूर पर अश्वारोही आ रहे हों। राजीव बाहर जाता है।]

धर्म०—मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियां ही बनाता रहे। अगर मुझे महाशिल्पी के अधिकार मिले होते तो—

मुकुन्द—तो तुम कोणार्क को अब तक कभी का पूरा कर चुके होते। हं...हं...हं...(अविश्वास का हास्य)

धर्म०—पूरा करना अब भी कठिन नहीं।

(बाहर कोलाहल बढ़ रहा है)

मु०—क्या ? धर्मपद तुम भूल रहे हो कि तुम महाशिल्पी आचार्य विशु के सामने खड़े हो। पिछले दस दिन से निरन्तर चेष्टा करने पर भी ये मन्दिर पर कलश को स्थापित नहीं कर सके और तुम—शास्त्रीय अध्ययन और अनुभव से शून्य—तुम कहते हो इसे

पूरा करना कठिन नहीं ! अपनी शक्ति से बाहर की बात न करो युवक !

वि०—(जो अब तक मौन हो इस वार्तालाप को सुनता रहा है) नहीं मुकुन्द, उसे अपनी बात पूरी कहने दो। बोलो युवक, क्या तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकते हो ? करोगे ?...सोच-समझ कर उत्तर दो। यह साधारण समस्या नहीं है। (इतने में कोलाहल बहुत बढ़ जाता है। तेजो के साथ राजीव का प्रवेश)

रा०—(हाँफते हुए) आचार्य ! महामात्य चालुक्य आ रहे हैं।

वि०—
मु०—
धर्म०— } चालुक्य !!

वि०—चालुक्य ? यहाँ आ रहे हैं, बिना पूर्व सूचना दिये ?

रा०—जी हाँ। कई अश्वारोही साथ हैं। (बाहर तुरही की आवाज) सुनिये ! (दूर से उच्च स्वर में प्रतिहारी बोलता है "सावधान, सावधान श्री महामात्य महादण्ड-पाशिक राजराज चालुक्य पधारते हैं, सावधान।")

मु०—महादण्डपाशिक ! सुना तुमने, विशु ? (खिड़की से झाँकता है)

वि०—ऐसी जल्दी में महामात्य का हम यथोचित स्वागत कैसे कर सकते हैं ? राजीव, अन्दर से वेत्रासन तो ले आओ ! (राजीव बायीं तरफ जाता है और एक वेत्रासन लेकर लौटता है)—युवक, तनिक इस तोशक और चादर

को भलीभाँति रख दो। (धर्मपद चौकी के तोशक इत्यादि को ठीक करता है)—मुकुन्द, महामात्य प्राचीर के अन्दर आ गये ?

मु०—(खिड़की से मुंह हटाते हुए) वे यहीं सीधे आ रहे हैं, विशु ! (रुक कर) महामात्य का इस तरह सहसा आना मुझे अच्छा नहीं लगता, विशु ! (नेपथ्य में निकट आता हुआ स्वर "सावधान, सावधान")

राजीव—आचार्य ! वे आ गये—

[दो प्रतिहारियों का प्रवेश। प्राचीन भटों का वेश, कंधों पर गदा या खड्ग। अन्दर आकर द्वार के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं। उसके बाद महामंत्री चालुक्य आते हैं। पुष्ट काय, आयु लगभग ४५, मुख पर क्रूर मुद्रा बड़ी-बड़ी मूंछें। नेत्र छोटे हैं और बातें करते वक्त और संकुचित लगते हैं। बात-चीत के वक्त भौंहें सिकुड़ जाती हैं और बायें हाथ से ठुड्डी को सहलाते भी हैं। पोशाक—पुराने ढंग से बाँधी हुई धोती, रेशमी उत्तरीय, सुवर्णपट मस्तक पर, बाजू पर एक बांजूबन्द, कमर में कटार। उत्तरीय कुछ लटक रहा है और एक हाथ से उसे पकड़ते हुये वेग से अन्दर आते हैं और पूछे जाने से पहले ही बैठ जाते हैं। धर्मपद बीच वाले दरवाजे के पास खड़े हैं; मुकुन्द खिड़की के पास, राजीव दरवाजे के निकट और विशु सब के बीच में कुछ आगे। सभी लोग झुक कर महामात्य को प्रणाम करते हैं। कुछ क्षण के लिये स्तब्धता।]

चालुक्य—(कमरे के सभी व्यक्तियों पर सरसरी निगाह डाल कर फिर विशु पर आँखें ठहरा देते हैं) तुम जानते हो विशु, मैं क्यों इस तरह सहसा आया हूँ ?

वि०—आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली—

चा०—सूचना देता तो तुम लोगों का भंडाफोड़ कैसे होता ?

वि०—जी ?

चा०—राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्य-कोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं न मजदूर। दस दिन हो गये कलश तक स्थापित न हो सका।

वि०—हम लोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुये हैं।

चा०—(मुंह बनाते हुये) चेष्टा में लगे हुये हैं।...यहाँ तो मैं देखता हूँ गप्पें हो रही हैं। (सहसा धर्मपद पर दृष्टि पड़ जाती है, इशारा करते हुये) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है ?

धर्म०—मैं ? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुःख-गाथा कह रहा था।

चा०—शिल्पियों की दुःख-गाथा ? प्रतिहारी इसे धक्का दे कर बाहर निकालो। मुफ्तखोर कहीं का।

धर्म०—मैं आप ही जाता हूँ। (बीच वाले दरवाजे से प्रस्थान, अपमानित अभिमान की मुद्रा)

वि०—महामंत्री, आप के शब्द बहुत कटु हैं। उसे तो मैंने ही—

चा०—कटु शब्द ! (पैशाचिक हास्य) अब कटु शब्दों से काम नहीं चलेगा विशु। मैंने सुना है कि शिल्पी लोग राज्य के विरुद्ध सिर उठा रहे हैं, सुवर्ण मुद्राओं में वेतन माँगते हैं, और—

मु०—महामात्य आपको किसी ने बढ़ा कर खबर दी है। सुवर्ण मुद्रा भला यह बेचारे क्या माँगेंगे ? हाँ, यह अवश्य है कि इस अकाल के समय में उनके कुटुम्बों पर महान् कष्ट आ पड़ा है।

चा०—देखता हूँ तुम लोग भी इन्हीं में मिले हुये हो। मन्दिर पूरा होना तो अलग रहा, यहाँ—तुम लोग मिल कर राज्य पर दबाव डालने के लिये अभिसन्धि कर रहे हो। इसे—

त्रि०—महामंत्री, मेरी भी सुनिये—

चा०—चुप रहो। मैं तुम जैसे लोगों को राह पर लाने की युक्ति भली भाँति जानता हूँ। (खड़ा हो जाता है) विशु, बरसों से बिनमाँगी प्रशंसा सुनते-सुनते तुम अपने को दण्डविधान से परे समझने लगे हो। आज मैं तुम्हारे इस घमंड को चूर करने ही आया हूँ।... सुन लो और कान खोल कर सुन लो! आज से एक सप्ताह के अन्दर यदि कोणार्क देवालय पूरा न हुआ तो (कुछ रुक कर, शब्दों पर जोर देते हुए) तुम लोगों के हाथ काट दिये जायँगे।

(भय-क्रान्त नीरव)

वि०—(अविश्वासपूर्ण स्वर में) शिल्पियों के हाथ काट लिये जायंगे ?

रा०—(सरोष) हाँ, शिल्पियों के हाथ काट लिये जायेंगे। आज से आठवें रोज या तो मन्दिर में सूर्यदेव की मूर्ति का प्रतिष्ठान होगा या तुम बारह सौ व्यक्तियों की भुजाओं पर प्रहार। (द्वार की ओर बढ़ता है, प्रतिहारी भी प्रस्थानोन्मुख होते हैं।)

सु०—इतना भीषण दण्ड ?......क्या यही उत्कल-नरेश की आज्ञा है ?

चा०—(रुकता हुआ) हाँ, हाँ। महाराज नरसिंहदेव की आज्ञा है।......और मेरी, महादण्डपाशिक की

आज्ञा है। (चलते समय सब लोगों पर क्रूर दृष्टि डालते हुये) उत्कल-नरेश......। हूँ ! (प्रस्थान । पदचाप। थोड़ी देर बाद नेपथ्य से दूर होता हुआ स्वर "सावधान, सावधान, महामात्य महादण्ड-पाशिक राजराज चालुक्य पधारते हैं—सावधान महामात्य"......स्वर मन्द हो जाता है। इधर स्टेज पर सब लोग चुप खड़े हैं—चिन्तित)

रा०—(नीरव तोड़ते हुये भीत स्वर में) अब क्या होगा ? (विशु अचेतन सा चौकी पर बैठ जाता है)

मु०—राजनगरी में अपराधियों के हाथ कटते मैंने देखे हैं। बड़ी पीड़ा होती है।

वि०—(मानो सपने में) उत्कल-नरेश की आज्ञा ? महाराज मेरी बरसों की सेवाओं पर इतना भीषण कुठाराघात करेंगे !

मु०—क्या मालूम उत्कल-नरेश की आज्ञा है या महामात्य का अपना उत्पात। हमारे पास साधन भी नहीं, समय भी तो नहीं कि महाराज के मन की बात जान सकें। वे अभी तक वंगविजय के उपरान्त लौटे भी नहीं हैं।

रा०—सात दिन !—केवल सात दिवस के बाद हम सबों के हाथ काट लिये जायँगे ?

मु०—ये हाथ...(काँप कर हाथों को देखता हुआ) ये हाथ ? (सूखी हँसी)

रा०—क्या कोई उपाय नहीं, आचार्य ?

(पीछे वाले द्वार से धर्मपद आता हुआ दृष्टिगोचर होता है।)

धर्म०—(आते आते) एक उपाय है। (सब लोग उसकी ओर देखने लगते हैं)

मु०—धर्मपद !

रा०—तुम फिर आ गये ? तुमको तो......

वि०—(क्षुब्ध स्वर में) युवक, वह तुम्हारा अपमान नहीं, मेरी प्रतारणा थी।

धर्म०—आचार्य, ठोकर खाकर धूल सिर पर चढ़ती है।

मु०—सिर पर चढ़ने के सपने छोड़ दो युवक ! कोणार्क के प्रांगण में सात रोज बाद उत्कल के समस्त शिल्पियों का रक्त बहेगा।

धर्म०—मैंने सुना है। मैं बाहर पास ही खड़ा था।

वि०—युवक, विनाश का वह संदेश अपने साथियों को भी सुना दो, मुझमें साहस नहीं कि उस विकराल घड़ी के लिये उन्हें तैयार कर सकूं।

धर्म०—निर्दय अत्याचार की छाया में ही जो विकसते और मुर्झाते हैं उनको एकाध विपत की घड़ी के लिये तैयार होने की जरूरत नहीं आर्य !...लेकिन मैं कहता हूँ इसकी नौबत ही क्यों आये ?

वि०—मेरी बुद्धि काम नहीं दे रही है।

धर्म०—मुझे अवसर दें आचार्य !

वि०—तुम्हें ?

धर्म०—महामंत्री के आने से पहले आपने मुझसे पूछा था—"क्या, तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकोगे ?" मेरा उत्तर है आचार्य कि मुझे अवसर दिया जाय।

मु०—तुम कर क्या सकोगे धर्मपद ? हम लोगों ने हर तरह से चेष्टा कर के देख ली। पहले कलश कितना बड़ा था। अब उसे छोटा करके भी स्थित किया गया लेकिन ठहरता ही नहीं। केन्द्र से कुछ हटा कर भी रखा गया,

छप्र और जंघा में तो कोई दोष है ही नहीं। हरेक अनुपात सही है, एक एक राह पग और भूमि के आकार को भली भाँति देखा गया है। आखिर करने को रह क्या गया है ?

धर्म०—आर्य शिल्पकला का शास्त्रीय अध्ययन तो मैंने नहीं किया लेकिन मुझे लगता है कि मन्दिर के ऊपरी भाग में जो कमल की आकृति है—

मु०—तुम्हारा मतलब अम्ल से है ?

धर्म०—जी हाँ, उसी के केन्द्र में कलश स्थापित करना है। मुझे लगता है कि कोणार्क के इस कमल की पंखुड़ियाँ उल्टी हैं। उन्हें उलट देने पर कलश शायद ठहर सकेगा।

मु०—पंखुड़ियाँ उलट दी जायँ ?

धर्म०—मेरा मतलब है कि हरेक पटल को फिर से इस तरह रखा जाय कि जो बाहरी हिस्सा है वह अन्दर केन्द्र पर हो और जो नुकीला भाग है वह बाहर निकले। इस तरह उसकी आकृति खिले कमल की-सी हो जायेगी, कली की-सी नहीं, लेकिन कलश स्थिर रहेगा। मेरे मन में जो चित्र है उसे यों पूरी तरह तो नहीं समझा सकता किन्तु यदि अवसर दिया जाय तो करके दिखाऊँ !

वि०—(मानो अन्धे को टिमटिमाता प्रकाश दीखा हो) युवक ! तुम्हारी बात सारहीन नहीं जान पड़ती। अम्ल के केन्द्र पर शायद अधिक भार देने से कलश की यष्टि को सहारा मिले। (विचार-मग्न मुद्रा) हाँ, युवक मुझे पहले यह सूझा न था। अम्ल के बाहरी

भाग पर इस समय जान पड़ता है अनुपात से अधिक भार है।...अगर...अगर...हम उस भार को हल्का कर सकें ! तुम ठीक तो कहते हो युवक (खड़े होते हुये), तुम ठीक कहते हो।...भार को हल्का करने के लिये अगर पटल को अन्तर्मुखी कर दिया जाय तो सम्भव है, सम्भव है...सम्भव !! (कलाकार की भावना चरम विन्दु पर पहुँच गई है।) धर्मपद चलो मेरे साथ। अभी चलो। हम छत्र के ऊपर चढ़कर अभी तैयारी करेंगे—पटल वदलने की। अभी! (मध्य-द्वार की ओर बढ़ता है।)

धर्म०—ठहरिये !

वि०—(मानो स्वप्नभ्रष्ट हुआ हो) ऐं।

धर्म०—ठहरिये।...यदि मेरी युक्ति सफल हो जाये और कोणार्क के शिखर को हम स्थापित कर सके तो मुझे क्या मिलेगा ?

वि०—तुम क्या चाहते हो ? जो कुछ मेरे हाथ है तुम्हें दूंगा।

धर्म०—मैं चाहता हूँ कि यदि शिखर पूरा हो जाय तो एक दिन के लिये, सिर्फ एक दिन के लिये—मन्दिर प्रतिष्ठापन के दिन—आप अपने सब अधिकार मुझे दे दें।

वि० —अगर कोणार्क पूरा हो जाता है तो एक दिन क्या सभी दिनों के लिये वे अधिकार तुम्हारे हो जायेंगे। मैं तुम्हें अपने स्थान पर प्रधान शिल्पी वना दूंगा।

रा०—यह आप क्या कह रहे हैं, महाशिल्पी ?

मु०—(साश्चर्य) विशु ?

वि०—मैं ठीक कह रहा हूँ। इस युवक की प्रतिभा ने मुझे मुग्ध कर लिया है। राजीव तुम नहीं जानते हो। मुझे प्रधान के पद से कोई मोह नहीं। मोह है तो यही कि कोणार्क पूरा हो जाय।...आज इस युवक ने ठंडी होती हुई राख को फूंक मार कर प्रज्वलित कर दिया है। मेरे हाथ, मेरी भावनाएँ इसी क्षण कोणार्क को पूरा करने के लिये आतुर हैं।...चलो युवक! (धर्मपद का हाथ पकड़ कर मध्य द्वार से सवेग प्रस्थान)

राजीव—आर्य, यह आशा की किरण है या...

मु०—या दामिनी का क्रूर हास! राजीव, कोणार्क के क्षितिज पर बादल उमड़ रहे हैं, उमड़ रहे हैं!

[पटाक्षेप.]



उत्कल-नरेश नरसिंहदेव

(कोणार्क के ध्वंसावशेषों में प्राप्त एक मूर्ति के आधार पर)

द्वितीय अंक

[पन्द्रह दिवस बाद वही स्थान। मध्याह्नकाल। महाशिल्पी विशु के उसी कक्ष में महाराजाधिराज यवनावनिवल्लभ उत्कल-नरेश श्री नरसिंहदेव पधारे हैं। कक्ष पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है। वातायन और द्वार में से तोरण एवं पताकाओं से सुशोभित मन्दिर की आभा झांक रही है।

वसन और आभूषण भव्य होने के साथ-साथ नरसिंहदेव के व्यक्तित्व में दर्प और आत्मीयता का आकर्षक मिश्रण है।

अपने पराक्रम से यवन सूबेदार को पराजित करने वाला यह सैनिक-नरेश—इस समय कलाकार की विभूति, कोणार्क—को तैयार देख कर विभोर है। कभी चौकी पर बैठ कर विशु इत्यादि से बातें करते हैं, कभी प्रसन्न मुद्रा से मन्दिर की छवि का अवलोकन करते हैं।

और विशु? सृजन के ववंडर ने जिस गगनमंडल को झकझोर दिया था आज वही पूर्ति की स्निग्धता से आभासित है।

पार्श्व में अन्य शिल्पी—मुकुन्द, राजीव इत्यादि खड़े हैं। उनके पीछे उत्कल-नरेश के रहस्याधिकारी महेन्द्र वर्मन हैं—हाथ में एक मंजूषा लिये हुए।

पर्दा उठते समय नेपथ्य से महाराज की जय-जयकार के अन्तिम स्वर सुनाई देते हैं जिससे जान पड़ता है कि महाराज का अभी आगमन हुआ है।]

विशु—कोणार्क के इस कोने में कलिंग-नरेश का स्वागत है।

नरसिंह०—इस स्वागत के लिये हम बहुत दिनों से लालायित थे। विशु, कोणार्क को पूरा करके तुमने हमारे और उत्कल के गौरव को बढ़ाया है।

वि०—वही गौरव तो पत्थर के शृङ्गार में निखरा है महाराज!

न०—पत्थर। (मन्दिर पर दृष्टि) यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है मानो तुमने किसी जौहरी के गढ़े अलंकारों को पाषाण बना दिया हो। और दूर से इस विमान* और जगमोहन* के शिखर हिमाचल की चोटियों की स्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं...। महेन्द्र!

महेन्द्र—आज्ञा, देव।

न०—राजकवि विश्वनाथ से कहो, अपने "साहित्य दर्पण" में कोणार्क का प्रतिबिम्ब खोजें।

महे०—सागर ही जिसका प्रतिबिम्ब है, राजकवि का दर्पण उसकी झलक पा सकेगा, देव?

न०—तो राजगायक चन्द्रधर से कहो, इस अद्भुत रागिनी की प्रतिध्वनि को अपने गान में बाँधे।

---

* मंदिर के विभिन्न अंगों के नाम

महें०—जलनिधि की स्वर लहरियाँ ही जिसकी गूँज हैं उस रागिनी को कौन गायक बाँध सकेगा देव ?

न०—विशु, जानते हो यही वह गूँज थी जो हमें वंगप्रदेश में यवनों को पराजित करते समय रणभेरी में सुनाई दी थी।

वि०—देव, कलाकार की रागिनी मर्मज्ञ के कर्णपुटों को ही खोजती है।

न०—विजय के तुरन्त बाद हम अपनी सारी सेना को वंग-प्रदेश में ही छोड़ कर राजधानी को लौट पड़े। कोणार्क का सम्मोहन व्याध की वंशी था और हम थे विवश मृग।

मु०—तो क्या उत्कल-नरेश की विजयी सेना और महासेना-पति प्रतिष्ठापन के अवसर पर न आ सकेंगे, महाराज ?

महें०—वे लोग अभी वंगदेश में ही हैं।

न०—किन्तु महामात्य की अपनी दण्डपाशिक सेना तो पीछे आ ही रही है। हमने महामात्य को आदेश दिया था कोणार्क के उद्घाटन पर राज्य का सम्पूर्ण वैभव प्रदर्शित किया जाय।

वि०—महाराज की कला-मर्मज्ञता मुझे विह्वल किये दे रही है।

न०—विह्वल हम हो रहे हैं विशु ! यहाँ से तीन कोस पर मन्दिर की गगनचुम्बी पताका को देखकर हम बालकों की भाँति अधीर हो उठे। उसी समय महामंत्री बोले कि उनके रथ की धुरी टूट गई है। वे पीछे ठहर गये किन्तु हम में इतना धैर्य कहाँ जो रुक सकते ?

मु०—महाराज, मूर्ति प्रतिष्ठापन तो महामात्य के आने पर ही होगा ? मन्दिर के जगमोहन में पुजारी वृन्द, शिल्पी और चारण प्रस्तुत हैं।

न०—महामात्य को आने दो। उनके आने में अधिक विलम्ब न होगा।...और इस बीच में हम चाहते हैं कि मूर्ति-वन्दना से पूर्व ही हम कोणार्क के निर्माता, अपने प्रधान शिल्पी का, उन्हीं के कक्ष में उचित रीति से समादर करें।...(रहस्याधिकारी से)—महेन्द्र लाओ तो वह रत्नमाला! (रहस्याधिकारी मंजूषा में से भव्य रत्नमाला निकाल कर महाराज को देते हैं।) महाशिल्पी विशु, आगे बढ़ो और यह रत्नमाला हमारे हाथों से अपने—

वि०—ठहरिये देव ! इस रत्नमाला का अधिकारी मैं नहीं हूँ।

न०—(विस्मित) विशु, यह तुम्हारी विनम्रता है या हर्ष के अतिरेक से तुम विक्षिप्त हो गये हो ?

वि०—तनिक ठहरें देव ! (खिड़की के निकट जाकर पुकारता है) धर्मपद, अन्दर आओ।

महे०—यह आप क्या कर रहे हैं, महाशिल्पी ?

(धर्मपद का प्रवेश। संकोच और अवरुद्ध भावावेश की भंगिमा)

वि०—देव, इस रत्नमाला का अधिकारी यह युवक है। आज के दिन यही प्रधान शिल्पी है।

न०—(किंचित् तीव्र स्वर) प्रधान शिल्पी ? हमने प्रधान शिल्पी इस युवक को नहीं तुम्हें बनाया था, विशु !

वि०—किन्तु मैंने आज अपना पद इस युवक को अर्पित कर दिया है।

न०--(और कड़ा स्वर) तुम अपनी सीमा के बाहर जा रहे हो विशु !

वि०--देव यदि यह युवक न होता तो आज हम लोग मूर्ति प्रतिष्ठापन के लिये प्रस्तुत न होते ।

न०—यह कैसी पहेली ?

राजीव—महाराज ने सुना होगा कि मन्दिर के ऊपरी भाग—त्रिपटधर को स्थापित करने में बहुत विलम्ब हुआ था।

मह०—(महाराज से) देव को यह सूचना मैंने बंगदेश में ही दी थी

न०—उससे क्या ? विशु को अनेक भवनों के निर्माण में ऐसी समस्यायें सुलझानी पड़ी हैं ।

वि०—देव का कथन सत्य है । किन्तु इस समस्या ने मेरी प्रतिभा का अपहरण कर लिया था।

रा०—चाहे जैसे नाप-जोख करके हम विमान के ऊपर शिलाएँ रखते, वे सब नीचे आ पड़ती थीं। शिल्पीगण निराश हो चले थे और महाशिल्पी विशु अपने स्वप्न को अधूरा देख व्याकुल थे । चारों ओर अन्धकार था, चारों ओर उदासी !

वि०—ऐसे समय में पावस की वातास की भाँति तृषित भूमि में यह युवक आ पहुँचा, इसकी अद्वितीय सूझ मेरे लिए आकाशवाणी बनी, खोये राही का पथ प्रदर्शन हुआ । और सात दिन में ही इसके अनवरत परिश्रम और प्रतिभा ने कोणार्क के शिखर को पूरा कर दिया।

न०—हम चकित हैं । (धर्मपद से) युवक, जब महाशिल्पी विशु तुम्हारा लोहा मानते हैं तो हम अविश्वास

कैसे करें ? इस अल्पायु में ही जो इतना अद्वितीय प्रतिभाशाली हो ऐसे शिल्पी का हम सहर्ष स्वागत करते हैं ।

धर्म०—यह दास उत्कल-नरेश का आभारी है । यदि मेरी वुद्धि और प्रयास के द्वारा वारह सौ व्यक्तियों—

वि०—(उसे रोकते हुए) धर्मपद !!

धर्म०—आचार्य आपने वचन दिया था कि आज के दिन मुझे आपके सब अधिकार मिलेंगे—

न०—उसे कहने दो विशु । हम उसकी वात सुनना चाहते हैं ।

धर्म०—मैं केवल इतना कह रहा था कि मुझे तो सन्तोष इस वात पर है कि मेरे कारण वारह सौ शिल्पी अपंगु होने से वच गये ।

न०—युवक तुम्हारा क्या आशय है ?

मु०—महाराज की आज्ञा थी न कि यदि सात दिन के अन्दर कोणार्क पूरा न होगा तो सारे शिल्पियों के हाथ काट लिये जायेंगे ?

न०—हमारी आज्ञा ?

वि०—तो यह आपकी आज्ञा नहीं थी ! (उत्सुक) कह दीजिये देव, कह दीजिये कि महामात्य राजराज चालुक्य के शब्द झूठे थे !

महे०—महामात्य !

न०—चालुक्य ने तुम से कहा?....ओह....(कुछ सोच कर फिर किञ्चित् हँसते हुए) उन्होंने शायद तुम्हें यूँ ही धमकी दी होगी । उनका अभिप्राय तुम लोग नहीं समझे ।

धर्म०—अभिप्राय को समझना उन लोगों के लिये कठिन

नहीं था जिनके जीवन पर काले बादलों की छाया की तरह महामंत्री का भय फैला हुआ है।

न०—कौन हैं वे ?

धर्म०—वे ही जो उच्च सम्मिलित स्वर में कुछ ही देर हुये आपकी जय-जयकार कर रहे थे, देव,—वे अपने को मिटाकर सौन्दर्यमयी दुनिया बनाने वाले शिल्पी और मूर्तिकार।

न०—हमें तो उनके स्वर में बहुत उल्लास जान पड़ा।

धर्म०—देव, झुरमुट की ओट में चहकने वाले पक्षी का स्वर सर्वदा हर्षगान ही नहीं होता। आपको क्या मालूम कि उस जय-जयकार के पीछे हाहाकार चुपचाप सिसक रहा था ?

न०—युवक, तुम्हारी बातें हमें नई और अपरिचित-सी जान पड़ती हैं।

धर्म०—देव, ये उनकी बातें हैं जो बोल नहीं सकते।

महे०—युवक, महाराज के सम्मुख शिष्टता से बातें करो।

धर्म०—मेरी धृष्टता क्षमा करें देव! मैं साधारण शिल्पी, राज्य दरबार के नियमों से अपरिचित हूँ। कोणार्क पूरा करते समय मैंने आचार्य विशु से यही पुरस्कार माँगा था कि वे त्रस्त शिल्पी की व्यथाएँ उत्कल-नरेश के सामने मुझे रखने दें।

न०—शिल्पी और त्रस्त! सौन्दर्य के प्रणेता की क्या पीड़ा है ? हम उसका निवारण करेंगे।

धर्म०—अगर महाराज का ऐसा ही विचार था तो कारीगरों को मुद्राओं का पुरस्कार देना क्यों बन्द किया गया देव ?

न०--(विस्मित) मुद्रा देना बन्द किया गया? कब से?

मुकुन्द--महाराज को नहीं मालूम! तीन मास से तो यही आज्ञा--

वि०--(हर्षमिश्रित उत्सुकतापूर्वक) देव को नहीं मालूम? सच! कह दीजिये न देव, कह दीजिये कि महामात्य की यह आज्ञा भी उन्हीं का प्रमाद थी।

महे०--महामात्य!

न०--चालुक्य को यह क्या सूझी?...रहस्याधिकारी, कोषाध्यक्ष को आज ही आज्ञा दो कि शिल्पियों को जितनी मुद्राएं मिलनी हैं कल ही बाँट दें, और इसके अतिरिक्त प्रत्येक को दस-दस सुवर्ण-मुद्राओं का पुरस्कार मूर्तिप्रतिष्ठापन के उपलक्ष्य में दें।

(महेन्द्र का "जो आज्ञा" कह कर प्रस्थान)

धर्म०--(सोल्लास) जय जय महाराज श्री नरसिंहदेव की जय। (विशु और मुकुन्द इत्यादि के साथ) जय, जय, जय। (नेपथ्य से अनेक स्वरों में "जय उत्कल-नरेश की जय--जय, जय")

न०--जो पत्थर को जीवन दान दे, उसके जीवन-स्रोत को हम अजस्र देखना चाहते हैं।

धर्म०--महाराज के वचन सार्थक हों, यही हमारी भी कामना है।

न०--कामना क्यों! आज हम कोरी कामना नहीं, पूर्ति का आयोजन कर रहे हैं। युवक तुम निर्भय होकर हमारी उन्मुक्त जाह्नवी के भगीरथ बनो।

धर्म०--देव, अनेक शिल्पी अपने-अपने ग्रामों में स्त्री-बच्चों को थोड़ी सी जमीन और खेती के सहारे छोड़ कर आये हैं। वही मूल जीवनस्रोत सूख रहा है।

न०—क्यों ?

मु० — राज्याज्ञा है न कि वंगदेश में सेना भेजने वाले सामन्तों को उपहार-स्वरूप यही जमीन दे दी जाय ?

न०—यही जमीन ? ऐसी आज्ञा तो हमने कभी नहीं दी।

वि० —नहीं दी ? (सहर्ष) मैं कहता था न मुकुन्द, महाराज शिल्पी के प्रति इतने हृदयहीन हो ही नहीं सकते।

मु०—तो यह भी महामात्य की ही स्वेच्छा थी।

न० — महामात्य ? जान पड़ता है वंगदेश में हमारी लम्बी अनुपस्थिति के दिनों में राजराज चालुक्य विना सोचे समझे शिल्पियों से विरक्त हो गये। हम उनका भ्रम दूर करेंगे। राजधानी लौटने पर शिल्पियों के कुटुम्बियों को उनकी जमीन लौटाने की आज्ञा दी जायगी। सामन्तों के लिये दूसरा प्रवन्ध किया जायेगा।

वि० —देव ! आपके इस अनुपम अनुग्रह ने आज कोणार्क की शोभा को द्विगुणित कर दिया।

न०—हम नहीं चाहते कि इस सौन्दर्य सदन पर किसी भी कालिमा की छाया रहे।

धर्म०—यदि महाराज की यही भावना रही तो भविष्य उज्ज्वल ही रहेगा।

न० — तुम फिर भविष्य की वात कर रहे हो युवक ! हम तो आज ही, अभी कोणार्क को हर्ष और उल्लास का प्रतीक देखना चाहते हैं।

धर्म०—क्षमा करें देव ! न जाने कितनी आहें हमारे इस सौन्दर्य सदन के चरणों और चोटी से टकरा-टकरा कर विखर रही हैं।

न० — किसकी आहें ?

धर्म०—महामात्य के अत्याचार से प्रपीड़ित जनता की।

न०— शिल्पियों के प्रति उनके भ्रम को हम दूर कर देंगे।

धर्म०—किन्तु ग्रामों में रहने वाले सैकड़ों-हजारों किसान, वन और अटीविका के शवर और वे अगणित मजदूर जिनके ढोये हुये पाषाणों को हम शिल्पी रूप देते हैं, देव, वे सभी आज त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। यदि वे बोल पाते तो—(रुक जाता है)

न०—तो ?

धर्म०—तो महाराज से केवल एक वरदान माँगते।

न०— क्या ?

धर्म०—महामात्य का पद किसी प्रजावत्सल महानुभाव को दिया जाय।

न०— युवक, तुम अपनी परिधि के बाहर जा रहे हो।

धर्म०—अपराध क्षमा हो, देव !

न०—अपने मंत्रियों को नियुक्त करने या निकालने में हम सामन्तों और श्रेष्ठियों से सलाह लेंगे। शिल्पियों से नहीं।

वि०—यही तो में इसें समझा रहा था, देव ! शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिये अनधिकार चेष्टा होगी।

न०— राजराज चालुक्य हमारे विश्वस्त महामात्य ही नहीं हमारे पड़ोसी राज्य से भी सम्बद्ध हैं। उन्हीं पर भीतरी शासन का भार देकर हम यवनों को पराजित करने के लिये वंगदेश तक जा सके। तुम लोग इन बातों को क्या समझो ?

धर्म०—किन्तु प्रजा की अशान्ति, देव ?

न०—हम महामात्य को आदेश देंगे कि कोई अनुचित बात न होने दें। राज्य के स्तम्भ तो सामन्त और श्रेष्ठिगण हैं, किन्तु निर्धन प्रजा को सुखी रखने में ही हमारी कीर्ति है।

मु०—महामात्य को आने में बहुत देर हो रही है देव !

न०—हां ! रथ की धुरी ठीक होने में इतना विलम्ब तो नहीं होना चाहिये था। प्रतिहारी !

(नेपथ्य में सत्वर पदचाप)

प्रति०—आज्ञा देव !

न०—बाहर जाकर देखो। वे लोग आते दीखते हैं या नहीं।

प्रति०—जो आज्ञा।

(प्रस्थान)

वि०—देव, रहस्याधिकारी जी आते जान पड़ते हैं।

(महेन्द्र का तीव्र गति से प्रवेश)

न०—क्या है महेन्द्र ?

महे०—(चिन्तित स्वर में) महामात्य तो अभी तक नहीं आये देव ! किन्तु कुछ लोग आते दीख पड़ते हैं।

न०—वही होंगे। कितनी दूर हैं ?

महे०—निकट ही। किन्तु वे लोग आ रहे हैं पश्चिम से ही नहीं, उत्तर और दक्षिण से भी। अनेक रथ और सैनिक। धूल आकाश तक फैल रही है।

न०—जान पड़ता है महामात्य ने माण्डलिकों और सामन्तों को भी आज के समारोह में सम्मिलित होने के लिये बुला रखा है।

महे०—किन्तु इस निमन्त्रण को महाराज से गुप्त रखने का आशय ?

न०—कौतुक !

महे०—नहीं देव।

न०—तब ?

महे०—(रहस्यपूर्ण मुद्रा और गहरा स्वर) षड्यन्त्र !

न०—(चौंक कर) महेन्द्र !

महे०—सारी दण्डपाशिक सेना तो महामात्य के अधिकार में है, देव !...मैंने सभी द्वार बन्द करा दिये हैं देव !

न०—(आवेश से) हम अभी सिंह द्वार पर जा कर स्वयं देखेंगे। तुम्हारा भ्रम है।

महे०—भ्रम नहीं देव...वह देखिये।

(बाहर हलचल)

मु०—प्रतिहारी? किसी को पकड़ कर ला रहे हैं। (कोलाहल। शैवालिक को पकड़े हुये दो तीन प्रतिहारीगण का प्रवेश। शैवालिक जोर लगाकर अपने को छुड़ाना चाहता है। उसके हाथ में एक पत्र-मंजूषा है।)

शै०—मुझे छोड़ दो, छोड़ दो।

न०—कौन ?

महे०—शैवालिक !!

न०—उसे छोड़ दो प्रतिहारी। क्या बात है ?

एक प्रति०—प्रभो, महा षड्यन्त्र हुआ है। तीन दिशा से दण्डपाशिक मन्दिर को घेर रहे हैं।

न०—घेर रहे हैं, किसकी आज्ञा से ?

शै०—परम प्रतापी कलिंग-नरेश श्री राजराज चालुक्य की आज्ञा से।

(सब लोग चौंक उठते हैं)

न०—चालुक्य ! कलिंग-नरेश !!...विश्वासघाती !!

महेन्द्र—स्वयं महाराज के सामने इतनी उद्दण्डता !!
(खड्ग निकालते हुये) अभी-अभी तुझे नरक का मार्ग—

शै०—सावधान ! मुझपर हाथ चलाने की चेष्टा न करो। मैं दूत के रूप में भेजा गया हूँ। (पत्र-मंजूषा महाराज को देते हुये) यह, लीजिये, महाराज राजराज चालुक्य का संदेश, और मुझे उत्तर दीजिये।

(महाराज मंजूषा की मोहर तोड़ कर पत्र निकालते हैं। पत्र पढ़ते समय उनकी मुद्रा महारोषमयी हो जाती है। सब लोग चुप हैं।)

न०—(हाथों से पत्र मसलते हुए) तो रथ की धुरी इसलिये टूटी थी। इसलिये कि इतने समय में दण्डपाशिकों की सेना और माण्डलिकों को इकट्ठा कर लिया जाय। राजधानी में...

प्रति०—प्रभो, राजधानी में चालुक्य के दण्डनायकों ने पहले ही राजप्रासाद पर अपना अधिकार जमा लिया है। यही शैवालिक कहता था।

न०—तोषालि और कणिका के सामन्त ?

शै०—वे सभी हमारे साथ हैं।

न०—उफ, नीच पामर ! सब के सब विश्वासघाती !

शै०—राज्य सत्ता की भित्ति विश्वास नहीं, बल है।

महे०—बल ?...यवन विजेता पराक्रमी नरेश बलविहीन कब से हो गये।

शै०—यवन विजेता की सेना कहाँ है ?

न०—सेना ! यदि हमें इस दुरभिसन्धि का लेशमात्र भी आभास होता तो हमारी सेना...

शं० — वंगदेश में न होती। किन्तु अब पछताने से क्या होता है ? आपके सामने एक ही मार्ग है।

न० — आत्मसमर्पण ?—कभी नहीं।

शै० — तब, आत्महत्या।...युद्ध में पराजित हो कर बन्दी होना आत्महत्या के तुल्य होगा।

वि० — बन्दी ! हमारे पूज्य महाराज बन्दी हों, यह अनाचार कैसे हो सकता है, कैसे हो सकता है ?

शं० — तुम्हें इन बातों से क्या मतलब ? तुम लोग शिल्पी हो, कल इनके नौकर थे, आज से राजराज चालुक्य महाराज के। शासन की बागडोर चाहे जिसके हाथ में हो तुम्हें तो अपनी कला-साधना करनी है।

धर्म० — (जो अब तक मूर्तिवत देखता रहा है) बहुत हुआ, बहुत हुआ, दूत ! क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं जो चाहे जिसके हवाले कर दी जायँ ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाडोल कर रहे हो वह हमारे ही तो कन्धों पर टिका है। क्या उसपर वह बैठेगा जिसके कारण सैकड़ों घर उजड़ चुके हैं, वह जिसने कोणार्क के सौन्दर्य-निर्माता शिल्पियों को ठीकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजा-वत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव !

न० — शाबाश, धर्मपद !

मु० — धर्मपद, तुम्हारे शब्दों में शिल्पी की आत्मा बोलती है।

शं० — मैं यह पागलपने का प्रलाप सुनने नहीं आया हूँ। मुझे शीघ्र उत्तर मिलना चाहिये।

धर्म० — (महाराज की ओर उन्मुख होकर) देव, मुझे आज्ञा

दें कि इस उद्दण्ड चुनौती का उचित उत्तर दे दूं।

न०—युवक, तुम्हारी वाणी ने हमें नई आशा दी है ! हम मृत्यु पसन्द करेंगे लेकिन उस नीच पामर चालुक्य के आगे घुटने न टेकेंगे।

धर्म०—(सोल्लास) तो सुनो शैवालिक ! अपने नये स्वामी के पास यह अंगारों भरा संदेशा ले जाओ कि कलिंग-नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज, अत्याचारी विश्वास-घातियों की धमकियों की चिन्ता नहीं करते। वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है जिससे धरती थर्रा उठेगी ; दीन निर्धन प्रजा की शक्ति जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरों में दुर्दम सेनाओं का वल भर देगी। कोणार्क का मन्दिर आज दुर्ग का काम देगा। जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है।

शै०—(जाता हुआ) तो फिर सावधान, रक्तदान के लिये प्रस्तुत रहिये। मैं जाता हूँ। (प्रस्थान)

वि०—तीनों प्राचीरों के निकट सेना आ गई है। चौथी ओर समुद्र है। हम लोग कैसे और क्या करेंगे ?

न०—कोणार्क की चहारदीवारी के भीतर कुल कितने लोग हैं ?

मु०—लगभग पाँच हजार। बारह सौ शिल्पी हैं, बाकी अन्य जन-मजदूर इत्यादि।

धर्म०—किन्तु हथियारों की कमी नहीं।

महेन्द्र—धनुर्बाण तो कम ही होंगे। और खड्ग ?

मु०—वे भी इने-गिने ही होंगे।

धर्म०—हमारे अस्त्र हैं, कुदाली, दण्ड, हथौड़े और पत्थर। मन्दिर की प्राचीरों से विशाल पाषाणों को अकस्मात्

शत्रु के ऊपर गिराया जा सकता है। जब तक प्राचीर हमारे हाथों में है, शत्रु पास नहीं फटकने पायेगा।

महे०—किन्तु कब तक ?

न०—रात्रि के पहले पहर तक।

महे०—उसके बाद ?

न०—उसके बाद हमारा और तुम्हारा काम है, महेन्द्र !

महे०—दास कटिबद्ध है स्वामी !

न०—रात्रि में किसी तरह छिप कर जगन्नाथपुरी पहुँच जाना है। वहाँ श्री मन्दिर के अधिष्ठाता कभी मेरे विरुद्ध नहीं जा सकते। उनकी सहायता द्वारा अपने गुप्त शस्त्रागार तक पहुँच जाना कठिन नहीं।... महेन्द्र।

महे०—समझ गया महाराज ! राजधानी की पौर-सभा को मैं गुप्त सूचना दूंगा। वे गंगवंश के सर्वदा समर्थक रहे हैं।

न०—रात ही रात में सब कुछ करना है। रात में युद्ध बन्द होगा ही। सवेरे तक शत्रु को घेर लेना है।

महे०—किस पथ से जाना होगा ?

न०—सागर के तट पर मन्दिर का जो चौथा द्वार है वहीं से नौका में बैठ कर देव जा सकते हैं।

महे०—थोड़ा ही समय लगेगा किन्तु तट के सहारे-सहारे जाना होगा।

महेन्द्र—और कोणार्क की रक्षा ?

न०—धर्मपद, सम्हाल सकोगे ?

धर्म०—क्यों नहीं महाराज ! कोणार्क के प्राचीरों के पाषाण सुदृढ़ हैं और उनसे भी अधिक दृढ़ हैं शिल्पियों की भुजायें जो पाषाण में प्राण फूंकती हैं।

न०—दृढ़ता के साथ कौशल भी चाहिये।

महे०—समय कम है।

धर्म०—चिन्ता न करें, देव।....आर्य राजीव, जैसे भी हो हमें शत्रु को रात के पहले पहर तक रोकना है। आप प्रहरियों से धनुर्वाण लेकर अटीविका से आये शिल्पियों में बाँट दीजिये। उनका निशाना सधा हुआ है।

राजीव—अवश्य, और अभी! (जाता है)

धर्म०—और आप (दूसरे शिल्पी से) भास्कर जी!

भास्कर—प्राचीर पर के पाषाण-खण्डों का जिम्मा मैं लेता हूँ।

(प्रस्थान)

धर्म०—ये चारों प्रतिहारीगण, सिंह-द्वार पर शिल्पियों के साथ व्यूह की रचना करेंगे। (प्रतिहारियों का प्रस्थान) मैं शीघ्र बाहर जा कर शिल्पियों और मजदूरों को टोलियों में बाँटता हूँ। (तीसरे शिल्पी से) गजाधर जी आप अस्त्रों को एकत्रित करें।

गजाधर—मैं अभी जाता हूँ। (प्रस्थान)

धर्म०—और आर्य मुकुन्द, आप?

मु०—मुझे वृद्ध न समझो, धर्मपद!

धर्म०—आर्य, आप आचार्य विशु के साथ घायलों की शुश्रूषा के लिये विमान के नीचे देवमूर्ति के निकट रहें।

न०—और तुम धर्मपद?

धर्म०—आज्ञा हो, तो मैं नटमन्दिर की छत से निर्देशन करता रहूँगा।

न०—शत्रु के बाण उधर ही आयेंगे।

धर्म०—उसके लिये प्रस्तुत हूँ महाराज !

न०—धर्मपद, आचार्य विशु ने तुम्हें आज महाशिल्पी का पद दिया। हम तुम्हें कोणार्क का दुर्गपति बनाते हैं।

धर्म०—इस अकिंचन पर कलिंग-नरेश का अपार अनुग्रह है।

न०— नहीं हम तुम्हारे अदम्य साहस और उससे भी अधिक संगठन-दक्षता देख कर विस्मित हैं। तुमने यवन-विजेता उत्कल-नरेश को अपने वश कर लिया।

धर्म०—तब महाराज, आपको दुर्गपति का आदेश मानना होगा।

न०— क्यों नहीं।

धर्म०—तो देव, मेरा आग्रह है कि आप मन्दिर के पिछले भाग में ही रहें। वह सुरक्षित स्थान है। यदि आपका बाल भी बाँका हुआ तो सारी योजना ही निष्फल हो जायेगी।

नर०— रात्रि के प्रथम प्रहर तक हमने अपने को तुम्हारे हाथों सौंप दिया है। उस समय तक तुम्हीं हमारे निर्देशक हो, तुम्हीं हमारे सेनापति !

धर्म०—निर्देशक मैं नहीं हूँ, देव !

महेन्द्र—(साश्चर्य) धर्मपद।

धर्म०—हमारे निर्देशक, हमारे सेनापति बाहर खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

न०— कौन ?

धर्म०—वे सौन्दर्य के विधाता हजारों शिल्पी जिनकी आत्मा की तड़पन ही कलिंग-नरेश का अमोघ वज्र है,

जिनकी सुकोमल भाव तरंगों को अत्याचारी की ठोकर ने आज महारोष का उत्ताल सागर बना दिया है।

(बाहर कोलाहल और जयनाद)

न०—नरसिंहदेव इस महाशक्ति के आगे नतमस्तक है।

धर्म०—तो चलें, देव ! युद्ध से पहले इस प्रचण्ड भैरवी का अवलोकन करें।...चलिये !

[नरसिंहदेव और महेन्द्र का धर्मपद के पीछे-पीछे जाना। नेपथ्य से गगनव्यापी तुमुल निनाद की भाँति हजारों कण्ठों से निकलता हुआ जयनिर्घोष कर्णगोचर होता है। "जय जय कलिंग-नरेश की जय। जय जय कोणार्क दुर्ग की जय !! जय, जय, जय !!!"......

विशु मूर्तिवत् खड़ा सुन रहा है, सुन नहीं पाता। देख रहा है देख नहीं पाता। मुकुन्द उसका हाथ पकड़ता है।

जय-जयकार करता हुआ जनसमूह दूर जाता जान पड़ता है—स्वर मन्द हो गया है।]

मुकुन्द—चलो विशु।

विशु—मुकुन्द, मेरे कोणार्क के प्रांगण में यह विभीषिका ?

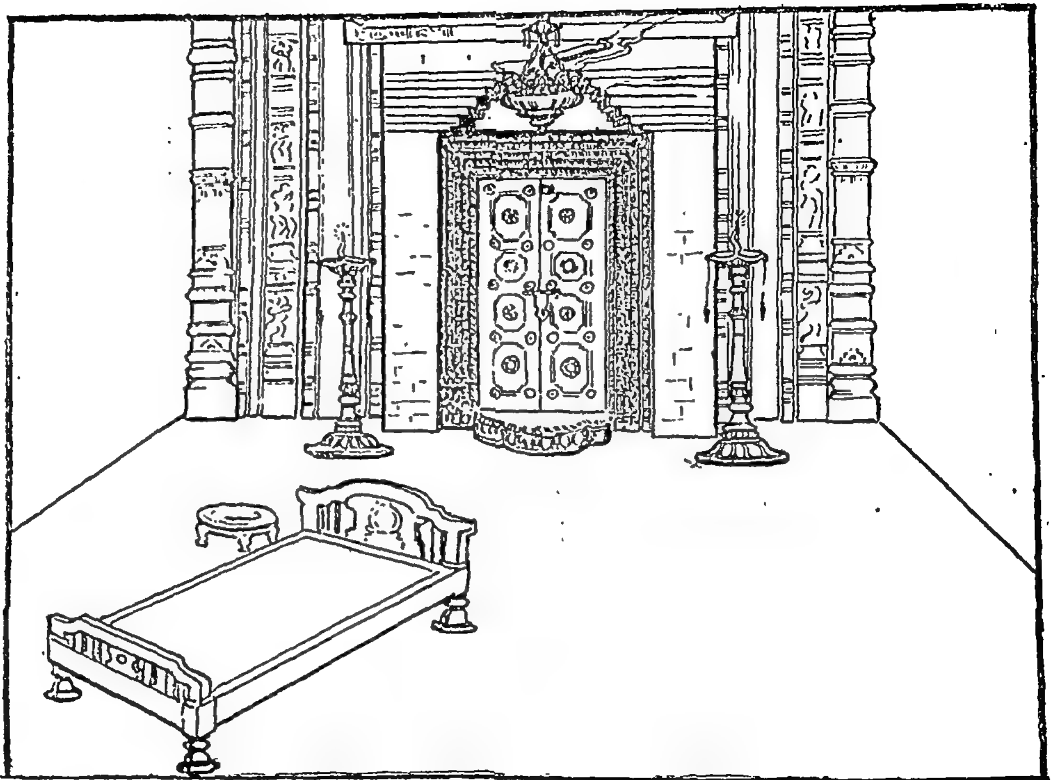
मुकुन्द—तुम उद्विग्न हो उठे विशु ?

विशु—(विचार-मग्न) उद्विग्न भी, और....और.... उत्सुक भी।

मुकुन्द—उत्सुक ?....किस लिये ?

विशु—मैं जानना चाहता हूँ, मुकुन्द, कि......(कुछ रुक कर धीरे-धीरे) कि यह धर्मपद कौन है?....(हठात् तीव्र स्वर) कौन है !....(मन्द विवश स्वर) कौन है ?

[पटाक्षेप]



"मन्दिर के गर्भगृह से सटा हुआ अन्तराल"
(तृतीय अंक)

तृतीय अंक

[मन्दिर के गर्भगृह से सटा हुआ अन्तराल। समय—रात्रि का दूसरा प्रहर। गर्भगृह के कपाट ठीक बीच में हैं और बन्द हैं; दीपक के मन्द प्रकाश में कपाट पर अंकित बारीक नक्काशी चाँदनी से अठखेलियां करने वाले कुसुम-वृन्त-सी जान पड़ती हैं। किन्तु म्लानमना अन्धकार से आच्छन्न अन्तराल के क्रोड़ में वह चाँदनी सहम रही है।

क्लान्त कोलाहल झपकियां ले रहा है, किन्तु जब-तब स्तब्ध सरोवर को चलायमान करने वाले पतित पल्लवों की भाँति अस्पष्ट ध्वनियां दूर नेपथ्य से सुन पड़ती हैं।

बायीं ओर एक चौकी पर तोशक के सहारे, मूर्छावस्था में धर्मपद उत्तरीय पर रक्त, माथे पर पट्टी। आधा बदन चादर से ढंका है।

पार्श्व में मुकुन्द, व्यग्र मुद्रा से उसके हाथों को सहला रहा है; निकट ही रखे जलपात्र में से पानी लेकर कभी-कभी धर्मपद के मुख पर छींटे मारता है।)

(विवश उन्माद के मूर्तिमान स्वरूप विशु का प्रवेश।)

वि०—(भग्न स्वर) मैं आशा छोड़ दूँ। मुकुन्द !

मु०—तुम आपे में नहीं हो, विशु ! स्थिर होकर बैठो।

वि०—रक्त बन्द हुआ ?

मु०—हाँ ?

वि०—(सावेग) उसे होश में लाना होगा। लाना होगा।

मु०—श्श..श्श। धीरे बोलो ! (धर्मपद के मुंह पर जल छिड़कता है।) धीरे...धीरे।

वि०—(दबी आवाज में) नेत्र खुल रहे हैं क्या ?

मु०—जान तो यही पड़ता है। (और जल छिड़कता है। धर्मपद का शरीर किंचित् हिलता प्रतीत होता है।) धर्मपद ! (चेतना का आभास। मुकुन्द विशु की ओर देखता है।) विशु, तुम कुछ समय के लिये मौन रहो !...सामने नहीं उधर हट कर खड़े हो जाओ। (धर्मपद से) ...धर्मपद !

धर्म०—मैं...मैं...कहाँ हूँ ?

मु०—देवमूर्ति के निकट अन्तराल में।...चित्त कैसा है ?

धर्म०—कौन ?...आर्य मुकुन्द !...(पुनः मूर्छना के चिह्न। मुकुन्द तकिये के सहारे धर्मपद के सिर को कुछ ऊँचा कर देता है और फिर जल छिड़कता है। थोड़ी देर बाद धर्मपद पहले से अधिक चैतन्य जान पड़ता है।)

मु०—चित्त कैसा है ?

धर्म०—(मन्द-स्वर)...ठीक हूँ, आर्य !...मुझे, दुर्ग-

पति को, मूर्छित होने का...कोई अधिकार नहीं था।...थोड़ा जल !

मु०— (जल देते हुये) तुमने तो अनेकों घाव झेले। मस्तक पर वाण लगने पर ही तो तुम मूर्छित हुये। लेकिन तुम्हारी मूर्छा ने ही शिल्पियों में विजली दौड़ा दी और शत्रु को रुक जाना पड़ा।

धर्म०—और महाराज ?...(सहसा)...शीघ्र बताइये, आर्य ! महाराज निरापद हैं ?

मु०— तुम्हारे गिरने के थोड़ी ही देर वाद अन्धेरा हो गया और महाराज समुद्र-तट पर पहुँच गये। तुरन्त ही नौका छोड़ दी गई।

धर्म०—अब मैं...सन्तुष्ट हूँ आर्य मुकुन्द !

मु०— यह तुम्हारे ही पराक्रम का फल है, धर्मपद ! तुम्हारी संगठन शक्ति के कारण हम मुट्ठी भर लोगों ने उस बलशाली सेना को इतनी देर तक रोक रखा। एक-एक शिल्पी पाँच-पाँच सैनिक के तुल्य था।

धर्म०—आर्य...अनेक शिल्पी मारे गये ?

मु०—हाँ, घायलों की भी काफी संख्या है। और बाकी लोग इतने थके हुये हैं कि यदि रात में युद्ध करना पड़ता तो सब गिर जाते।

धर्म०—रात्रि...में...तो युद्ध वर्जित है, पर हम लोगों को सावधान रहना है।

मु०— अभी तक तो सब तरफ शान्ति है। शत्रुसेना भोजनादि में लगी है। कल प्रातः वे लोग बहुत जोर से आक्रमण करेंगे।

धर्म०—तव...तक...तो महाराज...

धर्म०—हाँ मुझे पूरी आशा है कि रात-ही-रात में हमारे महाराज श्री जगन्नाथपुरी से अश्वारोहियों के दल को तैयार करके सूर्योदय होते ही चालुक्य के दल पर पीछे से आक्रमण कर देंगे। कल सुबह तुम्हारे भीषण प्रयत्न का पुरस्कार मिल जायेगा, धर्मपद ?

धर्म०—(म्लान हँसी के साथ) कल सुबह !...क्या मैं कल की सुबह देख भी सकूँगा, आर्य !

मु०— (उद्विग्न स्वर में) क्या कहते हो, धर्मपद ! अव तो रक्त भी नहीं वह रहा।

धर्म०—(रुक कर) मुझे कुछ अजब-सा लगता है। अन्दर से पुरानी वातों का वादल-सा उमड़ा पड़ता है।... आर्य, कल आप और आचार्य विशु ही सम्हालियेगा सब शिल्पियों को। मैं.... (अपनी छाती पर कुछ टटोलता है और सहसा रुक जाता है।)

मु०— आचार्य विशु यहीं हैं...(इशारा करता है। विशु, जो अब तक वेतावी से सब कुछ सुन रहा था, आगे वढ़ता है। पर धर्मपद की व्यग्र मुद्रा देख कर रुक जाता है।)

धर्म०—(व्यथित स्वर में) आर्य मुकुन्द—आर्य मुकुन्द—क्या आपने उसे देखा है ?

मु०—क्या ?

धर्म०—यहाँ...कपड़ों के नीचे ठीक हृदय के ऊपर मेरे गले से एक माला लटकी थी। कपड़ों के नीचे मिल नहीं रही आर्य ! वह मेरी वहुत प्यारी निधि है, वहुत प्यारी।

वि०—(आगे वढ़ता हुआ) वह मेरे पास है, धर्मपद। (जेव

से एक काले डोरे की माला निकालता है जिसके बीच में एक रत्न और मणि-जटित कंकण लटका है।) यही न ?

धर्म०—(उत्सुक) हाँ, हाँ ! यही...यही...आपको कहाँ मिली आचार्य ?

वि०— जब तुम मूर्छित हुये तभी यह गिर पड़ी थी। मैंने उठा लिया।

धर्म०—बड़ी कृपा की आचार्य ? अगर यह खो जाती तो मुझे बड़ी पीड़ा होती।

वि०— (निकट आते हुये) क्यों धर्मपद ? (उसके हाथ में देता है।)

धर्म०—(मानो नेत्रों में ज्योति आयी हो) आचार्य...यह माला नहीं है। इसके बीच में जो कंकण है न... यह...यह मेरी माँ का है।

वि०— (तीव्र भावावेश को रोकता हुआ) कहाँ है तुम्हारी माँ, धर्मपद ?

धर्म०—मेरी माँ ! आचार्य, मेरी माँ तो अब नहीं है। (मर्माहत हो विशु पीछे को हट जाता है, धर्मपद की दृष्टि से परे)

मु०—(विशु से भर्त्सनापूर्ण किन्तु मन्द स्वर में) विशु !

धर्म०—तभी उसके दिये हुये उपहार को हृदय से लगाये फिरता हूँ। मृत्यु से पहले उसने मुझे यह पकड़ाया और कहा कि मेरे पिता की देन है।

वि०— (उन्मद स्वर) पिता, पिता !

धर्म०—जिस पिता की बात उसने कभी पहले मुझसे न छेड़ी थी, पहली बार और अन्तिम बार तभी उसका नाम लिया था मेरी माँ ने !

मु०— तुम थक तो नहीं रहे हो धर्मा !

धर्म०—(अनसुनी करके ऐसे स्वर में मानो अनायास ही कोई कहानी याद आई हो) कैसी अद्भुत थी मेरी माँ !... आँधियों के निर्दय झकझोर से भी न झुकने वाले तालवृक्ष की तरह। मुझे गोदी लिये, बहुत पहले, जब वह नगर में आयी थी तो कौन उसका सहायक था ? मजदूरी करके, गरीबी के कष्ट और वैभव के अपमान सहकर, उसने मुझे पाला।

मु०— याद है तुम्हें, कहाँ से तुम लोग नगर में आये थे ?

धर्म०—शबर अटीविका से।...माँ ने बहुत कुछ बताया पर सब कुछ नहीं। उसने मुझे वह शक्ति दी जिसके बल पर नन्हा बीज धरती को फोड़ कर नये जीवन का प्रतीक बनता है। उसने मुझे आंचल से ढँका भी और छुड़ाया भी। उसकी ओजमयी वाणी मेरे कानों में गूंज रही है।—आप सुन पाते हैं आर्य ?

विशु—(रुंधे कण्ठ से) मैं सुन पा रहा हूँ। (विशु शय्या के निकट आता है।)

धर्म०—आचार्य विशु !

वि०—(धर्मपद के हाथ को अपने चेहरे में दबाता हुआ व्यथित और रुदनपूर्ण स्वर में) धर्मा, मेरे बच्चे, मेरे बेटे ! (रुदन)

धर्म०—(अपना हाथ खींचते हुये) आप रो रहे हैं, आचार्य !

मु०—धर्मपद, आचार्य विशु ही तुम्हारे पिता हैं। इस कंकण में कामदेव की जो मूर्ति अंकित है, वह इन्हीं के हाथ की बनाई हुई है।

धर्म०—क्या ?...आचार्य, मेरे पिता ! (कंकण को हाथ में लेकर देखता है) मेरे पिता ! !...पर...(जैसे कुछ याद आया हो) मेरे पिता का नाम तो...... ।

विशु—तुम्हारे पिता का नाम था श्रीधर ?

धर्म०—हाँ, हाँ यही नाम मेरी माँ ने बताया था ।

विशु०—वह अभागा श्रीधर मैं ही हूँ ।...विशु तो मेरा छद्मनाम है, जो मैंने शबर अटीविका से भाग आने पर रख लिया था । मैं ही वह श्रीधर हूँ जिसके कारण तुम्हारी माँ चन्द्रलेखा को इतने कष्ट उठाने पड़े । मैं ही वह कठोर, पापी, निर्दय तुम्हारा पिता हूँ जिसने......

धर्म०—उफ़...मेरा सिर चक्कर खा रहा है......
(मूर्छित; विशु उसके माथे पर हाथ रखता है और मुकुन्द जल छिड़कता है)

मुकुन्द—विशु, बरसों की खोयी निधि को मिलने पर यों ही न फेंक दो !

वि०—(कातर स्वर में) मैं क्या करूँ मुकुन्द ?...मुकुन्द क्या वह मुझे क्षमा कर देगा ? (दोनों व्यग्र मुद्रा से धर्मपद को देखते हैं) क्या वह मेरा मुख देखना चाहेगा, मुकुन्द ?

(धर्मपद की आँखें खुलती हैं)

धर्मपद—(मन्द स्वर) आचार्य ?

विशु०—(हल्के स्वर में) मुझे पिता कहो, धर्मा !

धर्म०—पिता ! (चाव भरे स्वर में) क्या आपको मेरी माँ की याद आती है ?

वि०— बीस बरस से उस याद के ही बल पर जी रहा हूँ ?

धर्म०—मेरी माँ के मन में भी भीतरी काँटे की तरह शायद आपकी याद गड़ी रही।

वि०—(जिज्ञासापूर्ण स्वर) क्या सच वह मुझ से रुष्ट रही? क्या तुम से भी उसने कहा?

धर्म०—नहीं। रुष्ट कभी नहीं रही और न मुझे कभी बताया। मैं वह सब कुछ नहीं जानता और न जानना चाहता हूँ!

वि०—मुझे क्षमा कर सकोगे पुत्र?

धर्म०—आर्य, मेरी आँखों के सामने जो पर्दा पड़ा है उसे उठाइये नहीं। उसपर मेरी माँ की मधुर, गम्भीर, दर्पभरी मूर्ति दीख रही है।....और वहाँ मानो सूरज की अन्तिम किरणें पड़ रही हैं। किरणों के बीच माँ कैसी भली दीख पड़ती है!.... ये किरणें किधर से आती हैं आर्य? आप जानते हैं? (करुण मंद संगीत ध्वनि। इस बीच दबे पांव मुकुन्द उठकर चुपचाप बाहर चला जाता है मानो पिता और पुत्र के इस अनिर्वचनीय मिलन दृश्य में विघ्न न डालना चाहता हो।)

वि०—(कुछ समझते हुए, कुछ रुँधे स्वर से) वे किरणें तुम्हारी माँ के तन से ही फूट रही हैं, धर्मा! मैंने भी इन्हें देखा है।

धर्म—कब?

वि०—मन्दिरों का निर्माण करते-करते कभी-कभी सहसा मेरी आँखों के आगे अंधेरा छा जाता था। उस अंधेरे में न तो मैं मूर्त्तियाँ गढ़ सकता था और न आकार-प्रकार निश्चित कर पाता था, न पत्थरों को जीवित

कर सकता था। तभी तुम्हारी माँ की मनोरम और तेजस्वी मूर्ति की झलक मिलती और उन किरणों से मुझे प्रकाश मिलता !

धर्म०—ठीक वही किरणें, ठीक वही आलोक !

वि०—हाँ पुत्र ! और अब मानो कोणार्क के अधूरे शिखर पर मेरे अरमानों को छिन्न होता हुआ देख उसने मुझे राह दिखाने के लिये तुम्हें भेजा।

धर्म०—जाने किस अदृश्य शक्ति ने मुझे शिल्पकला सिखा दी !

वि०—तुम शिल्पी विशु के पुत्र हो, धर्मा ! कोणार्क और किसी के स्पर्श से कैसे जग सकता था ? जैसे मरुस्थल में कहीं निर्झरिणी सहसा गायब हो जाने पर भी अन्यत्र वह निकलती है वैसे ही मेरी भटकी हुई प्रतिभा तुम्हारे मन में विकस उठी धर्मा ! सैकड़ों हजारों बरसों तक कोणार्क के उन्नत शिखर को देख कर लोग कहेंगे कि यह विशु और उसके बेटे की कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है। मेरे जैसा भाग्यशाली पिता आज उत्कल में और कौन है ?

धर्म०—संध्या की किरणें सिमट रही हैं आर्य ! लगता है जैसे माँ बुलाती हो।

वि०—क्या चन्द्रलेखा मुझपर इतनी भी दया न करेगी ? बरसों तक मैं अपना अभिशाप बन कर तपता रहा। अब शीतल छाँह में साँस लेने का अवसर आते ही क्या इससे भी प्रचण्ड अग्नि में मुझे झुलसना पड़ेगा ? न, यह न होगा, धर्मा ! मैं तुम्हें न जाने दूंगा। तुम अच्छे हो रहे हो। कल कोणार्क और कलिंग के ऊपर

से बादल हट जायेंगे। हमारे महाराज नरसिंहदेव विजयी होंगे और फिर कोणार्क के प्रांगण में मेरा और तुम्हारा—पिता और पुत्र का—अद्वितीय अभिवादन होगा।

धर्म०—विजय का अभिवादन ?

वि०—(तन्मय) कैसा अपूर्व क्षण होगा वह ! मेरी सारी साधना फलीभूत हो कर आह्लाद और उन्माद में निलय हो जायगी, धरती और अम्बर मेरे उल्लास को सम्हाल न सकेंगे। कोणार्क का प्रत्येक पत्थर अनन्य रागिनी को प्रतिध्वनित करेगा और शिल्पी के गौरव के आगे सारे संसार की समृद्धि नत-मस्तक होगी...

(इस बीच में बाहर से कुछ तीव्र हलचल की आवाज आती है जो विशु के शब्द समाप्त होने तक बढ़ती चली जाती है। मुकुन्द का बहुत घबड़ाई हुई अवस्था में प्रवेश।)

मु०—विशु, विशु, गजब हो गया ! हम लोगों का किया-कराया सब मिट्टी हो रहा है....

वि०—(जो अभी तक आह्लाद की मुद्रा में है) ठहरो, मेरा स्वप्न भंग न करो...

मु०—स्वप्न ? स्वप्न छोड़ो ! हम लोग महाविपत्ति में हैं।

धर्म०—(वापस होती हुई चेतना) क्या हुआ आर्य ?

मु०—तुम होश में हो धर्मपद ?...लेकिन इस अवस्था में तुम कर ही क्या सकते हो ?

वि०—बात क्या है ?

मु०—मन्दिर के दक्षिण प्राचीर के एक अंश में शत्रु के एक छोटे दल ने चुपचाप रास्ता बना लिया और इधर

हम लोग इस भ्रम में रहे कि वे लोग विश्राम कर रहे हैं। शत्रुदल अन्दर आ रहा है। हमारे शिल्पी या तो घायल हैं या इतने थके हुये कि शत्रुदल के बढ़ जाने पर सामना नहीं कर सकेंगे। राजीव अकेला कुछ मुट्ठी भर शिल्पियों को साथ लेकर रोकने की चेष्टा कर रहा है। पर सब व्यर्थ है।

विशु०—अब क्या होगा ? क्या होगा मुकुन्द ?

मु०— महाविनाश का आह्वान !

विशु०—ओह ! धर्मा ! धर्मा को बचाना होगा, बचाना होगा।

धर्म०—मुझे बचाने की चिन्ता न कीजिये, आर्य ! मुझे संध्या की वे ही किरणें बुला रही हैं। लेकिन सुनिये ! एक बार मन्दिर पर अधिकार कर लेने पर चालुक्य की शक्ति को कोई नहीं रोक सकता। महाराज नरसिंहदेव की चेष्टाएं विफल हो जायेंगी। सबेरे ही चालुक्य पुरी के लिये कूच कर देगा। और फिर उस अत्याचारी के आगे कोई नहीं ठहर सकेगा, कोई नहीं।

मु०— विशु, सुना तुमने ? वे लोग आगे बढ़ रहे हैं, हजारों मजदूर और शिल्पी 'विशु', 'विशु' पुकार रहे हैं। तुम क्या सोच रहे हो ?

विशु—मुकुन्द, क्या किसी तरह धर्मा को बचाया नहीं जा सकता ? मैं चालुक्य के आगे भीख माँगूंगा, मेरे बेटे के प्राण...

धर्म०—(मर्माहत हो उठ बैठता है, चेहरा तमतमा रहा है) आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

मु०--धर्मा, धर्मा ! तुम लेटे रहो नहीं तो फिर रक्त वह निकलेगा ।

धर्म०—वहने दीजिये। मैं लेटे रहना नहीं चाहता। (वाहर कोलाहल) वह सुनिये, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझने वाले वीरों की पुकार सुनिये ! क्या मैं उसे अनसुनी कर दूं ? (खड़ा हो जाता है और पास में रखे हुये भाले को उठाता है।) उन्हें मेरी ज़रूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है, शायद वह अन्तिम आहुति हो। (चलने को उद्यत)

त्रिशु०—(आर्त्त स्वर में) तुम जा रहे हो पुत्र ?

धर्म०—हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख माँगते, मैं उसे भीख दूंगा, अपने प्राणों की भीख। आर्य, मैं जानता हूँ—आप कायर नहीं हैं, पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। आर्य, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं कारीगर हैं।...आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदान्धता टूट पड़ी है। सौन्दर्य को सत्ता पैरों के तले रौंद रही है। और कोणार्क—आपका सुनहरा सपना, जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था—वही कोणार्क, एक पामर, पापी, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जायगा। आतंक के हाथों में जकड़ी हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सब से बड़ी हार होगी, सब से भारी हार। (प्रस्थान, कुछ देर शान्ति)

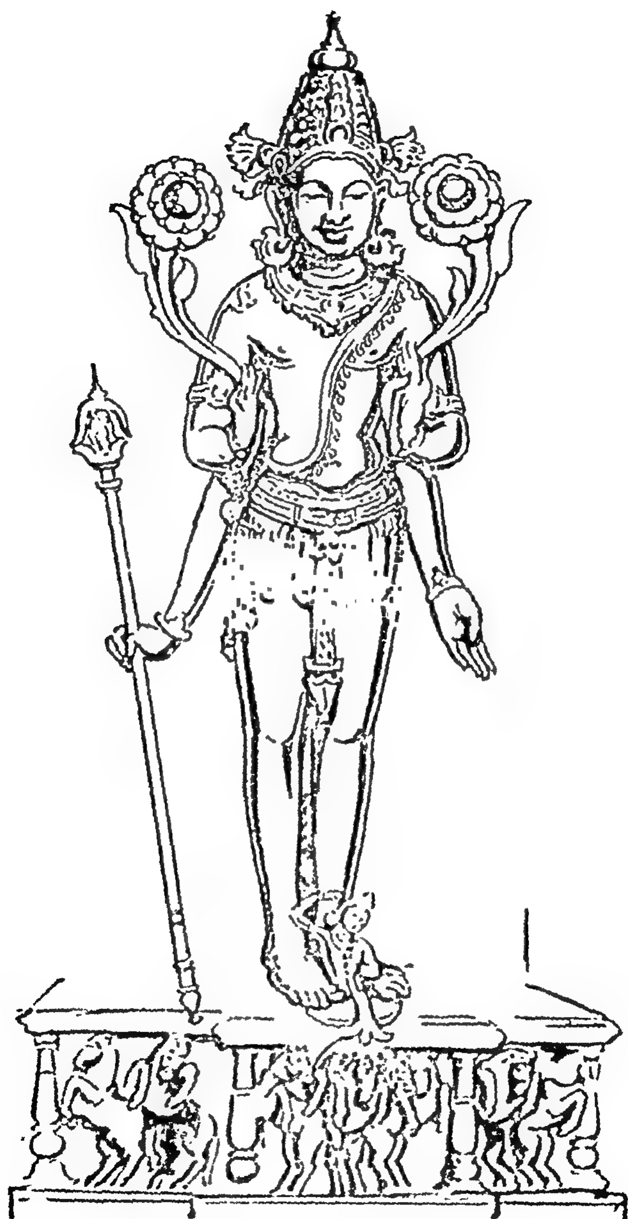
मु०--(कन्धे पर हाथ रखते हुए) विशु, विशु !

वि०—(हतबुद्धि-सा) कारीगर की हार ! कोणार्क आतंकी के हाथ का खिलौना !

मु०— (वाहर कोलाहल सुनकर) जान पड़ता है—धर्मपद संग्राम में कूद पड़ा है। लेकिन कितनी देर के लिये ! वे लोग आगे वढ़ रहे हैं। विशु, मैं जाता हूँ। देखूँ शायद उसे वचा सकूँ। (प्रस्थान)

वि०—(वही मुद्रा—कभी वैठता है, कभी घूमता है। वाहरी हलचल की उन्मत्त लहरें उसे छू नहीं पा रही हैं) कोणार्क—मेरी निधि....कोणार्क—मेरी सृष्टि—अपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में ? यह कैसा अभिशाप ! ओ अभागे कारीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार ?— (पुनः चुप। दूर नेपथ्य में कोलाहल वढ़ रहा है।)......कारीगर की हार ! ....ऐं....(उठकर खड़ा होता है) असम्भव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा ! (तेजी के साथ गर्भगृह के कपाट खोलता है। सूर्य देवता की मूर्ति कक्ष के वीच से पाँच हाथ ऊपर निराधार स्थित है। जाज्वल्यमान् मस्तक और मुकुट। वाकी कक्ष में घना अन्धकार।)

वि०— (साष्टांग अवस्था में रुँधे गले से) हे सूर्य भगवान, हे भुवनभास्कर ! वारह वरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जव उस लगन और तपस्या के वाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रँगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवन्, मैं यह कैसे सह सकता



सूर्य भगवान् की मूर्ति

(कोणार्क के ध्वंसावशेषों में प्राप्त प्रतिमा के आधार पर)

हूँ ? तुम, मेरे, सारे जगत के, प्रतिपालक हो पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। (मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है) तुम मेरे हो देव। तुम्हें मेरा कहा करना होगा। (उठते हुये) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिलकर ऐसा नहीं होने देंगे।....नहीं ! (खड़ा हो जाता है) ठीक है न मेरे भगवान ?

[मूर्ति द्विगुणित जान पड़ती है। प्रकाश की एक किरण विशु के चेहरे पर भी पड़ती है। उसकी आँखें मूर्ति पर गड़ी हैं और फिर मानो प्रतिमा का आह्वान पाकर वह आगे बढ़ता है—पास रखी हुई कुदाली को हाथ में ले गर्भगृह में प्रवेश कर कपाट को अन्दर से बन्द कर लेता है। प्रतिमा की ज्योति तिरोहित हो जाने से अन्तराल में अब पहले की भाँति हल्का-हल्का प्रकाश है। बाहर कोलाहल बढ़ रहा है। पद-चाप निकट आ रहे हैं। कुछ समय तक मंच खाली रहता है।

थोड़ी देर बाद कुछ सैनिकों के साथ राजराज चालुक्य, शैवालिक और अन्य सैनिकों का प्रवेश। सैनिक मुकुन्द को पकड़े हुये हैं।]

चालुक्य—यहाँ भी नहीं। कहाँ है नरसिंहदेव? कहाँ है विशु ?

शैवा०—मुकुन्द, तुम झूठ बोल रहे थे ?

मु०—यहीं तो विशु को छोड़ कर गया था। देखिये वह उत्तरीय। (चौकी की ओर इशारा करता है)

चा०—और नरसिंहदेव ?

मु०—मुझे नहीं मालूम।

चा०—देखता हूँ तुम भी उसी राह पर जाना चाहते हो

जिस पर उस उद्‌दण्ड धर्मपद को भेजा गया है। उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके इसी क्षण समुद्र में फेंके जा रहे हैं, जानते हो ?

(गर्भगृह के अन्दर कुछ गिरने की आवाज)

शै०— सुनिये देव ! अन्दर कोई है। (कपाट खोलने की चेष्टा करता है)

मु०— (उच्च स्वर में) विशु।

चा०— कपाट तोड़ दो ! (शैवालिक खड्ग से कपाट पर प्रहार करता है।)

मु०— कपाट न तोड़िये। विशु कपाट खोल दो। तुम क्या कर रहे हो ?

[विशु की आवाज़ आती है ऊपर से—गर्भगृह और मन्दिर को भेदती हुई आवाज मानो गहन कन्दरा के अन्ततम कोर से कोई सिंह दहाड़ रहा हो।]

विशु की आवाज़—बदला....शिल्पी का बदला ! (विशु का अट्टहास। कपाट पर चोटें लगती हैं और वह टूट जाता है। हलचल में दीपक बुझ जाता है। केवल गर्भगृह में आँखों को चकाचौंध करने वाले प्रकाश में एक अद्‌भुत दृश्य दीखता है। सूर्य भगवान की मूर्ति आप ही आप हिल रही है। मन्दिर की छत से कुदाली के प्रहार की आवाज़ आती है। रह-रह कर मूर्ति के आस-पास कुछ पाषाण-चूर्ण गिर रहा है।)

शै०— वह ऊपर चढ़कर शिखर पर नीचे से प्रहार कर रहा है।

एक सैनिक—मूर्ति हिल रही है।

मु०—विशु, तुम चुम्बक तोड़ रहे हो, देवमूर्ति गिर पड़ेगी।

विशु की आवाज—(कुदाली के आघात भी तेज हो रहे हैं।) हाँ, देवमूर्ति भी गिरेगी और शिखर भी। और फिर

(मूर्ति तीव्र गति से हिलने लगती है। कुछ पाषाण-खंड गिरने की ध्वनि) और फिर मन्दिर की सारी छत और दीवारें नीचे गिर पड़ेंगी; मेरे ऊपर, तुम्हारे ऊपर, इन नीच विश्वासघातियों के ऊपर। कोणार्क टूट रहा है, टूट रहा है—हा—हा—हा—

(वीभत्स अट्टहास; सैनिकों में खलभली।)

चा०— (जो अब तक किंकर्त्तव्य विमूढ़ खड़ा था) रोको रोको, उसे रोको ! (विक्षिप्त-सा गर्भगृह में घुस जाता है। कपाट आप ही आप बन्द हो जाते हैं और सारे रंगमंच पर अन्धेरा छा जाता है। नेपथ्य में पत्थर गिरने की आवाज़। सैनिक इधर उधर भागते हैं। अकेला मुकुन्द रह जाता है।)

विशु की आवाज़—हा....हा......हा....शिल्पी का बदला ! हा....हा....हा !!

मुकुन्द—विशु ! विशु! (एक भयानक चीत्कार। और उससे भी भयानक नेपथ्य में पत्थर टूटने और मूर्ति गिरने की आवाज। पूर्ण अन्धकार और विक्षिप्त वाद्य-संगीत के साथ पर्दा गिरता है)

———

उ प सं हा र

[वही झीना अन्धकार, वही कोणार्क के खंडहर की झलक; और उसी संगीत का महानाद जो उपक्रम में सुन पड़ा था। संगीत क्रमशः मन्द हो रहा है। फिर नेपथ्य से वे ही स्वर।]

तीसरा स्वर--

यों कोणार्क के विमान के टूटते ही
अत्याचारी चालुक्य और उसके साथियों का विनाश हुआ।
और विशु ?
जिस विराट् कल्पना को उसने साकार बनाया
उसी की गोद में उसे मृत्युशय्या मिली।

वे पाषाण-खंड जिन्हें उसने जीवन दिया था
उसके शव पर फूलों के समान बिखरे पड़े रहे ।
...उसके प्यारे बेटे ने ही तो वे फूल बिखेरे थे !
कैसा अनूठा है यह खँडहर !

(मंद करुणवाद्य संगीत)

दूसरा स्वर—

अनूठा खँडहर सोता है ।
नहीं यह क्रूर काल का हास,
नहीं क्षणभंगुरता का वास,
प्रणय का नहीं करुण उच्छ्वास,
छिन्न आशाओं का अवसान—
नहीं खँडहर बन रोता है ।

पहला स्वर—

रागिनी भग्न, किन्तु उद्दाम ।
अरे यह तो है विजयी धाम
कि जिसमें जागृत आठों याम
कला की जोत; अटल विश्वास
जगाये खँडहर सोता है
दूर यह खँडहर सोता है ।

(मौन और प्रस्थान)

प रि शि ष्ट (१)

निर्देशक और अभिनेताओं के लिए संकेत

(१) उपक्रम और उपसंहार मेरे नये प्रयोग हैं जिनमें आप संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के 'प्रोलौग' और "एपिलौग" एवं कोरस की झलक पायेंगे। मुख्य नाटक की गति इतनी तीव्र और अविच्छिन्न है कि नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व दर्शकों की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करना और समाप्त होते ही उनकी उद्वेलित और विश्रृंखल मानसिक दशा को संकलित करना मैंने जरूरी समझा। इस तरह दर्शकों की संवेदनशीलता को क्रमशः चढ़ाव (आरोह) और उतार (अवरोह) का मौका देना मेरा लक्ष्य है।

अच्छा हो यदि पहले और दूसरे स्वर किसी स्त्री के हों और तीसरा स्वर, पुरुष का। चूंकि नाटक में अन्यत्र न कोई स्त्री-पात्र है, न गायन, इसलिये उपक्रम और उपसंहार के गीत मधुर और मर्मस्पर्शी होने चाहिये। यदि स्वर और लय में विविधता न होगी तो दर्शक उकता जायेंगे।

नेपथ्य के तीसरे स्वर के शब्द बिलकुल स्पष्ट होने चाहिये। कथा का सूत्र यहीं से प्रारम्भ होता है, और यहीं कुछ ऐसे संकेत दिये गये हैं जिनसे दर्शक तीसरे अंक के रहस्य को पूरी तरह समझ सकते हैं। उस गद्यांश में अन्तर्हित काव्यध्वनि को न भूला जाय।

वाद्य-संगीत समुद्र की विराट् हलचल का प्रतीक होना चाहिये। पिछले दिनों हमारे यहाँ 'आर्केस्ट्रा' संगीत की कुछ प्रगति हुई है, फिर भी वह सशक्त अभिव्यंजना नहीं आ पाई है जो पाश्चात्य वाद्य-संगीत में लक्षित होती है। शुरू में कई वाद्य प्रचण्ड वेग और आवेश से बजाये जायें और फिर क्रमशः वाद्य कम होते जायें यहाँ तक अन्ततः सिर्फ वायलिन या वंशी का एकाकी स्वर ही सुन पड़े।

"बैक ग्राउण्ड म्यूज़िक" कहे या गाये जाने वाले शब्दों को दबने न दे—इस बात का ध्यान रखिये।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि नेपथ्य के लिये माइक्रोफोन का व्यवहार होने से दर्शकों का ध्यान आसानी से आकृष्ट हो सकता है।

(२) उपक्रम और उपसंहार में मंदिर की झलक दिखाने के कई तरीके हो सकते हैं जिनका व्यवहार निर्देशक के साधनों और कुशलता पर निर्भर है। एक सुझाव यह है कि सफेद पर्दे के पीछे कुछ दूर पर कार्ड-बोर्ड से काटे हुए मंदिर के मॉडल को रख कर उसकी ओट से पर्दे पर रोशनी डालिये जिससे पर्दे पर मंदिर की रूपरेखा की छाया दृष्टिगोचर होगी। प्रारम्भ में रोशनी मंद हो जिससे छाया अस्पष्ट हो; ज्यों-ज्यों ओट से स्वर सुन पड़ें छाया स्पष्ट होती जाय। लेकिन तीसरा स्वर शुरू होने पर फिर छाया

धुंधली होने लगे और समाप्त होते-होते छाया गायब हो जाय और रोशनी भी। उपसंहार में भी अन्त में छाया लुप्त होनी चाहिये लेकिन प्रकाश नहीं। जिस सफेद पर्दे पर छाया डाली जाय वह यवनिका (ड्राप कर्टेन) के फौरन बाद होना चाहिये जिससे रंगमंच के शेष भाग पर मुख्य दृश्य तैयार रहे और उपक्रम समाप्त होते ही प्रथम अंक के पहले वाक्य सुन पड़ें।

खँडहर का जो चित्र इस पुस्तक के कवर पर दिया गया है उसी के अनुसार कार्ड-बोर्ड का मॉडल तैयार किया जा सकता है।

यदि आपके पास साधन नहीं हैं तो छाया चित्र दिखाने के बजाय एक गहरे नीले या काले पर्दे पर खरिया से खंडहर की रूपरेखा खींच दीजिये। उसी से काम चल जायेगा।

(३) मैंने हर अंक में रंगमंच की जैसी कल्पना की है उसका रेखा-चित्र दे दिया है। प्रथम और द्वितीय अंक विशु के कक्ष में होते हैं और तीसरा मुख्य मन्दिर के सामने वाले अन्तराल (बरामदे) में। विशु के कक्ष से, खिड़की में से, पूरे मन्दिर की झलक नहीं मिलती केवल कुछ हिस्सा दीख पड़ता है। खिड़की के पीछे पर्दे पर चित्र खींच कर डाल दीजिये और उस पर हल्का प्रकाश फेंकिये। साधन न हो तो दिखाने की जरूरत भी नहीं। उसके बिना भी काम चल सकता है।

(४) प्रथम अंक के प्रारम्भिक अंश में पुरानी कथा का उल्लेख और बातचीत अधिक है; "एक्शन" कम। इसलिए एकरसता दूर करने के लिये अभिनेताओं को स्वाभाविक रूप से कभी-कभी स्थान-परिवर्तन करना चाहिये। स्वर में विविधता का बराबर ध्यान रहे। अभिनय की सुविधा के लिए यदि संवाद के कुछ अंशों को छोड़ना पड़े तो मुझे कोई आपत्ति नहीं लेकिन ध्यान यह रखना है कि कथासूत्र के लिए अनिवार्य कोई वाक्य न छूटें।

(५) पहले और दूसरे अंकों के आखिर में दो-चार वाक्य दर्शकों की उत्सुकता जागृत करने के विचार से लिखे गये हैं। उनकी महत्ता को यथोचित रीति से उभारना चाहिए। दूसरे अंक में संवाद भावावेश और नाटकीय गति का वाहन है। लेकिन बराबर एक-न-

एक घटना का ताँता लगा रहता है; इसलिये संवाद में प्रथम अंक की अपेक्षा अधिक मुस्तैदी और स्वाभाविकता होनी चाहिये।

(६) तीसरे अंक के पूर्वार्द्ध में संवाद काव्य सुलभ सुकोमलता की सतह पर चलता है; इसलिये कुछ विलम्बित गति और आत्मविभोरता की गुंजाइश है, लेकिन प्रायः देखा जाता है कि हमारे अभिनेता काव्यमय वाक्यों को कहते-कहते कभी-कभी इतने विभोर हो जाते हैं कि शब्दों के स्पष्ट और श्रव्य उच्चारण का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि सुन्दर से सुन्दर शब्द-समूह केवल विक्षिप्त प्रलाप-सा रह जाता है यदि उच्चारण साफ और स्वर दूर तक सुना जाने वाला न हो। यद्यपि धर्मपद आहत है और स्मृतियों की बाढ़ में उतराता-सा है, तब भी दर्शक को तो उसके एक-एक शब्द को समझना है।

विशु जब अकेला मूर्ति को सम्बोधित करके बोलता है तब उसके एक-एक वाक्य की निजी सत्ता है। लगभग हर वाक्य के बाद थोड़ा विराम है और उसके बाद स्वर भिन्न होना चाहिए, मुद्रा भी भिन्न होनी चाहिए।

जब उत्तरार्द्ध में कोलाहल होता है और पत्थर गिरने लगते हैं तो ध्यान रखिये कि कोलाहल और पत्थर गिरने की आवाज कथनोपकथन के बीच-बीच में हो उसके साथ-साथ नहीं, वरना शब्द सुनाई नहीं पड़ेंगे और दर्शक कथानक से वंचित हो जायेगा।

नेपथ्य में विशु की आवाज और कुदाली चलने के स्वर में कुछ सम्बन्ध होना चाहिये। याद रखिए, जब विशु एक बार गर्भ-गृह में घुस जाता है तो उसके बाद हमें उसकी आवाज ही सुनाई पड़ती है। वह दीखता नहीं है।

(७) तीसरे अंक में पत्थर टूटने और मन्दिर गिराने की कठिनाइयों की कल्पना करके आप उस अंक के विषय में गलत धारणा न बना लीजिये। पत्थर टूटने, मूर्ति गिरने और मन्दिर के गिरने के [illegible] मात्र अभिनयों [illegible] में होती है। असल में तो मूर्ति जिस चबूतरे पर स्थित है [illegible] में [illegible] है और

हमें उसकी झलक मात्र ही मिलती है। जिस स्थान पर बातचीत होती है वह तो गर्भगृह का अन्तराल है और जब तक उस पर पत्थर गिरें उससे पूर्व तो पर्दा ही गिर जाना चाहिए। मैंने इस अंक का जो रेखाचित्र दिया है, उससे यह बात साफ हो जाती है।

मूर्ति कार्ड-बोर्ड की हो सकती है और निराधार लटकने का आभास तार से लटका कर दिया जा सकता है। पुस्तक में अन्यत्र सूर्य भगवान् की मूर्ति का एक चित्र दे दिया गया है जिससे आपको मदद मिल सकती है।

अन्तिम अंश में संवाद और नाटकीय गति (action) का तारतम्य भली भाँति तभी निवाहा जा सकता है जब अभिनेताओं को 'प्राम्प्टर' के सहारे की बिलकुल जरूरत न पड़े। यदि "पार्ट" भली भाँति याद न हो तो तीसरा अंक तो सफल हो ही नहीं सकता।

अन्धकार और वाद्यसंगीत के द्वारा उत्तरार्द्ध की कुछ कठिनाइयों पर आसानी से विजय मिल सकती है।

(८) वेश-भूषा के लिए देखिये अजंता के चित्र और कोणार्क और भुवनेश्वर की ही कुछ मूर्तियों के चित्र जो पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली से मिल सकते हैं; ऐसी एक मूर्ति का रेखाचित्र पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है। वेश-भूषा इत्यादि से वह मूर्ति नरसिंह देव की जान पड़ती है। अकसर राजसी वेश-भूषा की तड़क-भड़क दिखाने के लिए मुगल-युग के कपड़े लोग प्राचीन नाटकों के पात्रों को भी पहना देते हैं। ऐसी बातें नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने के बजाय उसे क्षीण कर देती हैं। शिल्पियों की वेश-भूषा तो सादी ही होनी चाहिये।*

---

* डा० मोतीचन्द लिखित "भारतीय वेश-भूषा" जो भारती-भंडार, प्रयाग द्वारा हाल ही में प्रकाशित हुई है, हिन्दी में इस विषय पर पहली पुस्तक है और नाट्यशालाओं के लिए तो बहुत ही उपयोगी है।

(९) "साइड विग" सीधे सादे रखिये या प्राचीन स्तम्भों की भांति एकरंगे। पारसी थियेटर के रंग-विरंगे विग न लगाइये।

(१०) निर्देशक और संयोजक यह समझ लें कि नाटक की सफलता सेटिंग और तड़क-भड़क पर इतनी निर्भर नहीं करती जितनी अभिनय की उत्कृष्टता पर। हम लोगों की नाटक मंडलियों में काम करने वालों की संख्या कम होती है और समझदारों की और भी कम। ये इने-गिने लोग भी यदि अपनी सारी शक्ति भारी पर्दे और चमत्कारपूर्ण "इफैक्ट" तैयार करने में लगा दें तो नाटक सिनेमा की भद्दी नकल बन कर रह जायेगा। सिनेमा से एक कुशल निर्देशक बहुत कुछ सीख सकता है लेकिन सिनेमा और नाटक के प्रधान अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। सिनेमा में जो चमत्कार स्वाभाविक जान पड़ते हैं उनका नाटक में ज्यों का त्यों आरोप करना बेकार है। यहां तो संवाद और अभिनय की चमत्कार से अधिक महत्ता है और इसलिए उन्हीं पर विशेष जोर डालना चाहिये।

(११) अन्त में एक विशेष निवेदन है। नाटक का अभिनय करने से पूर्व लेखक को सूचना अवश्य दें और अभिनय के बाद अपने अनुभवानुसार नाटक के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर अपने विचार भी लिख भेजिये।

परिशिष्ट (२)

उदय की वेला में हिंदी रंगमंच और नाटक

भारतीय रंगमंच और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध और विकास की चर्चा करते हुए मैंने पहले भी यह मत प्रकट किया था कि सिनेमा के प्रचंड वैभव के बावजूद हमारे रंगमंच का पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है क्योंकि सिनेमा मनोरंजन की चाह को तो पूरा करता है परन्तु संस्कारों के भार से दबी और भूली-सी अभिनयात्मक आदिम प्रवृत्ति को पूरा-पूरा मौका नहीं देता और न दर्शकों को अभिनेताओं के मायावी लोक में अपनी हस्ती खो देने का निमंत्रण देता है। सिनेमा के पर्दे पर चलती-फिरती और जादूगरी से बोलने वाली मूर्तियों से प्रदर्शन के समय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होना उतना ही दूभर है जितना किसी स्वप्न-सुन्दरी से नाता जुड़ना।

की जरूरत है, किन्तु भारतीय संस्कृति के लिये [illegible] है। जो एक के लिये अमृत है दूसरे के लिये विष। जिन बादलों को बरसकर धरती को अन्न देना है, वे [illegible] कल्याण है, पर जो सूर्य की किरणों से [illegible] सौन्दर्याभिलाषिणी आत्मा को तृप्त करें ऐसे बादलों को तो [illegible] ही होना है।

अतः राजनैतिक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय रंगमंच की [illegible] नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिये। यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं सदी के जर्मनी में रंगमंच की विशिष्ट जीवित परम्परायें थीं, किन्तु हमारे यहाँ तो साफ मैदान है, जैसी चाहें इमारत खड़ी कर लें, कुछ नष्ट करने का डर नहीं। किन्तु यह भूल है। इसी भूल के कारण भारतीय समाज और साहित्य की वर्तमान ऊपरी सतह के नीचे जो अन्तःसलिला धारा बहती रही है उसमें डुबकी लगाने के कारण ही पिछले पचीस-तीस वर्षों के हिन्दी नाटककार प्रतिभा और प्रयास के होते हुए भी, जीवंत नाट्य साहित्य तैयार नहीं कर सके। एक शौकीनी (एमेचर) रंगमंच की स्थापना अवश्य हुई है सो भी स्वातंत्र्योत्तर काल में। यह रंगमंच गतिशील है, स्वस्थ है और समाज के एक वर्ग विशेष की अनिवार्य मांग की पूर्ति करता है। इसलिए इसका भविष्य उज्ज्वल है। एमेचर रंगमंच पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से उद्भूत नाटकीय प्रेरणा की अभिव्यक्ति है और इसके द्वारा एक नयी परम्परा की प्रतिष्ठा हुई है जिसे हमें कायम रखना है।

किन्तु जैसा मैंने ऊपर कहा है हमें विस्मृत परम्पराओं की धाराओं की टोह भी लगानी है और उनके लिये मार्ग प्रशस्त करने में ही हमारा सांस्कृतिक नवनिर्माण सफल हो सकेगा। एक अन्तःसलिला धारा थी संस्कृत नाटक साहित्य में परिलक्षित रंगमंच की, ऐसा रंगमंच जो अपने उत्कर्ष काल में एक अनुपम सामंजस्यपूर्ण संस्कृति का परिचायक था, जिसके विभिन्न अंगों के संतुलन में नागरिक जीवन की सर्वांगीणता सन्निहित थी और जिसके प्रतिबन्धों में शताब्दियों के अनुभव से अर्जित ज्ञान का निमंत्रण। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस परम्परा को उबारा सदियों के बाद। उनकी प्रतिभा की प्रचंड किरणों ने विस्मृति

के अभेद्य कारा को खंडित किया, और वसंत के लुभावने समीरण के स्पर्श से हिन्दी रंगमंच जाग उठा।

भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित धारा का अवसान हिन्दी साहित्य के आधुनिक इतिहास में एक महान दुर्घटना थी। क्यों ऐसा हुआ इसकी भी अपनी कहानी है जिसकी ओर हिन्दी साहित्य के इतिहासकार का ध्यान आना चाहिए। यहाँ संकेत के तौर पर इतना कहना काफी होगा कि विचारक्षेत्र में उत्तरप्रदेश के आर्यसमाजी सुधारवादी सिद्धान्त, सामाजिक क्षेत्र में हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों के उच्चवर्गीय नेताओं की संस्कृति-शून्यता, राजनैतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता युद्ध के परिणामस्वरूप आदर्शवादी निग्रह (Puritanism) की भावना और भाषा के क्षेत्र में द्विवेदी जी के नेतृत्व में शुद्धता और इतिवृत्तात्मक अभिव्यंजना का आन्दोलन, सभी, किसी न किसी रूप अथवा परिस्थिति में भारतेन्दु की रस प्रवाहिनी निर्झरिणी के लिए मरुस्थल तुल्य प्राणान्तक सिद्ध हुए। इस तरह हिन्दी रंगमंच के उत्थान का प्रथम प्रयास जिसका प्राचीन संस्कृत रंगमंच से लगाव था, अधूरा ही रह गया। बाद में जो नया दौर चला उसकी प्रेरणा कहीं और से ही आई और प्रसाद जी के नाटक तो एक कल्पनाजन्य रंगमंच को आधार मानकर प्रणीत हुए।

क्या अब पुनः उस अधूरे यज्ञ की परिणति हो सकती है? क्या उसकी आवश्यकता भी है इस युद्धोत्तर जनवादी युग में? मैं कहूँगा, हाँ। संस्कृत नाटक की परम्परा में नूतन हिन्दी रंगमंच के बहुमुखी विकास की एक प्रधान शैली के बीच विद्यमान हैं।

यदि पाश्चात्य यथार्थवादी रंगमंच से प्रभावित हो हमारे स्कूल, कालेजों, और क्लबों द्वारा एमेचर रंगमंच की अभिवृद्धि होगी, तो प्राचीन संस्कृति पद्धति का आधार ले, और बैले इत्यादि के साधनों से सम्पन्न हो एक नागरिक (Urban) और व्यावसायिक (Professional) रंगमंच भी हमारे प्रमुख नगरों में प्रस्तुत हो सकता है। ऐसे रंगमंच के लिए संस्कृत रंगमंच की कमनीयता, इसका सुरम्य वातावरण वांछनीय हैं, रंगशाला की सजावट, उसके विभिन्न अंगों का वितरण, संगीत और नृत्य का प्रचुर प्रयोग, इन सभी विषयों में संस्कृत

रंगमंच की विशिष्ट धरोहर है। सिनेमा और चित्ताकर्षक नृत्य प्रदर्शन के इस युग में कोई भी व्यावसायिक और नागरिक रंगमंच जीवन को यथातथ्य प्रतिविम्बित करने वाले दृश्यों के सहारे नहीं पनप सकता, किन्तु हृदयग्राही और नयनाभिराम होने के लिए हिन्दी रंगमंच को पारसी थियेटर के कृत्रिम साधनों का सहारा नहीं लेना है और न आधुनिक पाश्चात्य नाट्यशालाओं की प्रतीकवादी पृष्ठभूमि का दामन पकड़ना है। हम संस्कृत रंगमंच की ललित रंगपीठ, सरस स्वाभाविकता और शास्त्रोक्त मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं से भरेपुरे अभिनय को सहज ही अपना सकते हैं। अभी तक श्री पृथ्वीराज कपूर द्वारा प्रस्तुत किये गये नाटकों को देखने का मुझे अवसर नहीं मिला है, लेकिन यदि बम्बई में वे संस्कृत नृत्यशालाओं, वस्त्राभूषणों और अभि नय कला की कुछ विशेषताओं को अपने थियेटर में, प्रयोगरूप में ही सही, चालू करें तो मेरा विश्वास है कि वे रुचिपरिमार्जन के साथ-साथ आभिजात्यवर्ग के नागरिकों का यथेष्ट मनोरंजन भी कर सकेंगे। ऐसा रंगमंच व्यावसायिक दृष्टि से असफल नहीं हो सकता क्योंकि उसमें "ओपरा" के गीतिप्रधान वातावरण और रमणीयता और सिनेमा की तीव्रगतिशीलता और नाटकीयता का अलभ्य सम्मिश्रण होगा। मुख्यतः यह रंगमंच नगरों और उत्सवों तक ही सीमित रह सकेगा।

राष्ट्रीय रंगमंच का तीसरा और शायद सब से महत्त्वपूर्ण अंग होंगी देहाती नाटक मंडलियाँ। पिछले दिनों लोगों का ध्यान जनता के विचारों और व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले इस अचूक साधन की ओर गया है और कम्यूनिस्ट पार्टी ने तो अपने पीपुल्स थियेटर द्वारा आरम्भ के दिनों में निस्सन्देह कला का यथेष्ट कल्याण किया। किन्तु कम्यूनिस्ट कलाकारों को सिद्धान्त की वेदी पर वेदर्दी के साथ सौन्दर्य का बलिदान करना पड़ता है और इसलिए निकट भविष्य में तो पीपुल्स थियेटर राष्ट्रीय रंगमंच को शायद ही समृद्ध कर सके। दूसरे, यद्यपि पूर्वी बंगाल, तेलंगाना और पश्चिमी मालाबार के कुछ हिस्सों में कम्यूनिस्ट मंडलियों को देहाती अभिनेताओं और गायकों इत्यादि का सहयोग अंशतः मिल सका, तथापि हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में ये मंडलियाँ प्रायः पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय उग्र विचारवान् प्रतिभाशाली और उत्साही

नवयुवकों की बानगी बन कर ही रह गई। ये मध्यवर्गीय नवयुवक जिन्होंने शहरों में रह कर, पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों के आधार पर अपनी विचारशैली निर्धारित की थी, अपने प्रगतिशील सिद्धान्तों की खातिर, ऐसा जान पड़ता था, देहाती पोशाक पहन लेते थे। उन्होंने पढ़ा कि रूस में जनता का नाटक पार्टी की प्रेरणा से खूब पनपा। इसीलिए यहाँ भी, उन्होंने देहाती नाम, देहाती समस्याओं और देहाती पोशाक का सहारा ले, मिली-जुली देहाती भाषा में बड़े शहरों में और कहीं-कहीं गाँवों में भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू कर दिया। थोड़े दिन तो यह चीज खूब चमकी। किन्तु आकाश की जिस धारा ने धरती के नीचे प्रवाहित होने वाले सोतों से नाता नहीं जोड़ा वह तो ऊपर ऊपर ही बहकर ढल जाती है। कम्यूनिस्ट रंगमंच ने वस्तुतः बिहार, उत्तरप्रदेश, और मध्यप्रदेश में, देहातों में प्रचलित और लोकप्रिय अभिनय प्रणालियों से सम्बन्ध स्थापित्त नहीं किया और न इन देहातों में जौहर दिखानेवाले अशिक्षित या अर्धशिक्षित अभिनेताओं और गायकों को अपनाया। उन्होंने उन प्रणालियों अथवा पद्धतियों का अंशतः अनुकरण तो किया लेकिन चालू प्रणालियों से सीधा सम्बन्ध नहीं जोड़ा। शायद उसमें उन्हें ह्रासोन्मुख (decadent) संस्कृति के चिह्न दीखे।

वस्तुतः हमें राष्ट्रीय रंगमंच के इस विशाल क्षेत्र को उर्वर बनाने के लिए उस लोकरुचि की मांग को समझना होगा जिसके सहारे अब भी उतनी नौटंकी पार्टियां और मंडलियां जीती रही हैं। छः-सात वर्ष हुए बिहार के एक साधारण-से ग्राम में दौरा करते समय मुझे उस गाँव की ही एक मंडली द्वारा प्रस्तुत किया गया नाटक देखने का अवसर मिला। ठठ के ठठ पुरुष और नारी जमा थे। स्टेज के नाम पर एक चौकी। एक ढोलकवाला था। अभिनेता कुल चार या पाँच। दर्शक तीन तरफ। न कोई पर्दा न कोई विशेष सजावट। नाटक का नाम था 'ज़ालिम सिंह' जो उत्तरी बिहार में खासा प्रसिद्ध है। अभिनय में कोई विशेष कला नहीं थी। कहानी अच्छी होते हुए भी, उसमें कई अश्लील अंश थे। लेकिन मुझे लगा जैसे उस नाटक के खेलनेवालों और चारों ओर उमड़ने वाली जनता में एक संशयहीन आत्मीयता हो,

जिसका में एक अंग नहीं बन सका। उसके बाद बिहार और पूर्वी यू० पी० के भोजपूर इलाके के लोकप्रिय कलाकार भिखारी ठाकुर के विषय में बहुत कुछ सुनकर और उनके "बिदेसिया" के नाम पर जुट पड़नेवाली जनता की मनोवृत्ति का अध्ययन कर में इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि देहाती रंगमंच उन आदिम अभिनयात्मक इच्छाओं की अभिव्यंजना है जिसके बल पर ही सिनेमा के तीव्र प्रचार के बावजूद रंगमंच अपना अस्तित्व कायम रख सकता है।

देहाती रंगमंच की बुनियाद में अभिनेता और दर्शक के बीच वही तदात्मीयता (Mutual understanding) है जिसका जिक्र मैं ऊपर कर आया हूँ। यह तभी सम्भव हो सकता है जब नाटक मंडली के अभिनेता और प्रबन्धक देहाती जनता की रुचि, इच्छा और माँग का अध्ययन करें। उसकी तथाकथित अश्लीलता या बेरोक रसानुभूति से नाक-भौं न सिकोड़ें और उच्च स्तर से आविर्भूत होनेवाले उपदेशकों की भाँति, नीति अथवा उद्धार की झड़ी न लगायें और न आर्थिक शोषण का जड़ोन्मूलन करने के लिए जनता का भावोद्वेलित करने की आशा करें। यह तो प्रधानतः मनोरंजन का क्षेत्र है। इसे परिमार्जित करने का एक ही मार्ग है, यानी जो मनोरंजन भोंड़ा है उसे सुन्दर, कलापूर्ण और स्वस्थ बनाया जाय। उदाहरणतः इन नाटकों ने रंगमंच की सजावट में ग्रामीण कला को अवसर दिया जाय। चटाइयों पर गेरू से सुन्दर डिज़ाइन बनाकर मंच के उपपीठ पर लटकाये जायँ। गाँव की स्त्रियाँ अल्पना अंकित करें। भद्दे शहरी पर्दों के स्थान पर बैकग्राउंड में जंगली पत्तियों और फूलों की लड़ियाँ टाँगी जायँ। गाने-बजाने की बहुलता रहे। हारमोनियम के स्थान पर सारंगी और तबले के स्थान पर ढोलक हों। चूंकि पर्दे बदलने की तो गुंजायश वहाँ होती नहीं है इसलिए दृश्य परिवर्त्तन और नाटक में धारा-प्रवाह को जारी रखने के लिए एक सूत्रधार रहे। वह अच्छा गायक और हाजिर-जवाब होना चाहिए। संस्कृत नाटकों में तो सूत्रधार प्रस्तावना के बाद गायब हो जाता था। लेकिन आधुनिक देहाती रंगमंच में उसकी बराबर जरूरत पड़ेगी और उसका काम लगभग वही होगा जो यूनानी नाटकों में कोरस द्वारा सम्पन्न होता था, यानी नाटक और दर्शकों के

बीच सूत्र कायम रखना। स्थान-स्थान पर नाटक के कथानक के प्रति उत्सुकता जागृत रखने के लिए वह टिप्णी देगा, अभिनेताओं को कपड़े बदलने का समय देने के लिए, दर्शकों का मनोरंजन करेगा और नाटक के भावुक स्थलों पर भावावेग के अनुकूल गीत सुनाकर उसी प्रकार नाटकीय संवेदना का संवर्धन करेगा जैसे आधुनिक सिनेमा और रेडियोरूपक में पार्श्व संगीत।

अभिनेता जहाँ तक हो सके देहातों में से ही लिए जायँ, यद्यपि सूत्रधार का आधुनिक संस्कृति और ज्ञानराशि से परिचित होना आवश्यक है। मैंने ग्रामीण जनता के सभी वर्गों में कुशल अभिनय की दक्षता रखनेवाले व्यक्तियों को पाया है। थोड़ी ट्रेनिंग से उनकी योग्यता निखर जायेगी इसमें कोई संदेह नहीं। देहाती नृत्य और सम्मिलित संगीत, उस रंगमंच के महत्त्वपूर्ण अंग रहेंगे। हर प्रदेश के अपने-अपने जननृत्य हैं, जिनका बड़े-बड़े नगरों के अत्याधुनिक रंगशालाओं में नये फैशन के युवक-युवतियाँ द्वारा शौकीनी प्रदर्शन पिछले दिनों खूब किया गया है। लेकिन ठेठ देहात में, जहाँ की यह चीज है, नैसर्गिक वातावरण में, देहाती युवक-युवतियों को ही अपने रंगमंच पर प्रदर्शन करने के लिए कहाँ तक उत्साहित और संगठित किया जा रहा है, इसमें मुझे बहुत कुछ संदेह है।

देहाती रंगमंच का संगठित रूप क्या है और उसकी अन्य क्या विशेषताएँ होनी चाहिए इस विषय पर सविस्तार भविष्य में लिखूंगा। क्योंकि इस क्षेत्र में कुछ क्रियात्मक अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही मुझे अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार हो सकता है। पिछले छः वर्षों से वार्षिक वैशाली महोत्सव के अवसर पर मैं इस ढंग के देहाती रंगमंच की कल्पना को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा करता रहा हूँ। कुछ सफलता भी मिली है क्योंकि वैशाली तो एक गाँव ही है रेलवे स्टेशन से २३ मील दूर और चाहने पर भी वहां नगर के साधन उपलब्ध नहीं हो सकते। ग्रामीण अभिनेता, ग्रामीण दर्शक, ग्रामीण उपादान सभी मिल जाते हैं। निर्देशन हम लोगों का होता है और विशेषतः सजावट का निर्देशन कलाकार उपेन्द्र महारथी का। फिर भी कार्यक्रम में कालेज के नवयुवकों द्वारा प्रस्तुत

नाटक शामिल करने ही पड़ते रहे हैं। शायद भविष्य में अधिक सफलता मिले।

इस वर्ष से विहार में सरकार की ओर से सांस्कृतिक चेतना-सम्वन्धी योजना में हम लोगों ने देहाती रंगमंच के विकास के उद्देश्य से मोद-मंडलियों की स्थापना की है। योजना सरकारी है और इस-लिए उसकी गति गज-गामिनी की-सी है। स्वरूप भी वैसा हो तो शिकायत की गुंजायश न रहेगी किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में निश्चित रूप से यह पहला सरकारी कदम है और फूंक-फूंक कर उठाया जा रहा है। लोगों को भी यकीन नहीं होता कि इसके पीछे कोई और तो चाल नहीं है। यदि यह तजुर्वा अंशतः भी सफल हुआ तो मैं एक या दो वर्ष वाद इसकी पूरी कथा हिन्दी पाठकों के सामने रखूंगा।

ऊपर के विवरण से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि आज दिन हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रीय रंगमंच का क्रमिक निर्माण तीन पहलुओं में हो रहा है। मेरे विचार से इन्हीं तीन शैलियों में भावी हिन्दी रंगमंच की रूपरेखा सन्निहित है यानी १. यथार्थवादी, एमेचर (शौकीनी) रंगमंच, २. प्राचीन नाटय परम्परा से प्रेरित किन्तु आधुनिक व्यावसायिक साधनों से सम्पन्न नागरिक (Urban) रंगमंच और ३. परिमार्जित और संशोधित रूप में देहाती रंगमंच। यदि हमारे उदीयमान नाटककार और उत्साही निर्देशक और अभिनेता इन प्रवृत्तियों को नजर में रखते हुए अपनी कार्य प्रणालियाँ निर्धारित करें तो बहुत-सी वेकार मेहनत वच जाय और हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंच और नाटय साहित्य की वास्तविक उन्नति हो।

इससे पहले कि इन प्रवृत्तियों के अनुकूल नाटय साहित्य की आव-श्यकताओं की ओर मैं इशारा करूँ, यह जरूरी है कि हमारे रंगमंच के पुनर्निर्माण काल की दो प्रवल शक्तियों यानी सिनेमा और रेडियो का जो प्रभाव इन तीन धाराओं पर पड़ रहा है या पड़ सकता है, उसका भी कुछ अन्दाजा लगा लिया जाय। सिनेमा को मैं रंगमंच का घातक मानने के लिए तैयार नहीं। मेरे विचार में तो सिनेमा ने रंगमंच के पुनरुत्थान के लिए अनुकूल वातावरण पैदा कर दिया है। सदियों से भारतवर्ष की जनता नाटय और अभिनयकला की ओर से उदासीन

हो चली थी। लोकरुचि पर काई जम गई थी और उच्च सांस्कृतिक क्षेत्र में अभिनय और नृत्यप्रदर्शन का कोई स्थान ही नहीं रह गया था। सिनेमा ने उस काई को काट कर फेंक दिया और देखते-ही-देखते अभिनय और कलात्मक प्रदर्शन हमारे सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग वन गये।

यह सच है कि सिनेमा की लोकप्रियता ने पारसी थियेटर को नष्ट कर दिया, लेकिन उसके विनाश का कारण सिनेमा के आधुनिक मशीन युग के साधन ही नहीं थे, वल्कि अभिनयकला का एक नवीन दृष्टिकोण भी। सिनेमा ने जब यह दिखाया कि यथार्थ जीवन में जैसी वातचीत, जैसा व्यवहार, जैसी भाव-भंगिमाएँ होती हैं, वैसी ही नाटकों में प्रदर्शित की जा सकतीं हैं तो पारसी थियेटर के जोशीले भाषण, फड़कती हुई शेरें और तमक कर बोलने की परिपाटी अपना सारा आकर्षण खो बैठे। चन्द्रकान्ता सन्तति के तिलिस्म को जैसे प्रेमचन्द के यथार्थवादी उपन्यासों ने ढाह दिया ऐसे ही सिनेमा ने पारसी थियेटर के शीशमहल को खंडहर बना दिया। नतीजा यह हुआ कि जब इब्सन, शा, गाल्सवर्दी इत्यादि से प्रेरित होकर उत्तर भारत के कुछ नगरों में एमेचर रंगमंच का आविर्भाव हुआ तो सिनेमा के उदाहरण ने उसके यथार्थवाद के लिये दर्शकों को तैयार कर दिया। एकांकी की उन्नति में सिनेमा का कितना जबरदस्त हाथ रहा है इस पर शायद एकांकी लेखकों ने भी विचार नहीं किया है। भारतवर्ष में बोलते सिनेमा के प्रचार से पूर्व यदि यथार्थवादी विशेषतः सामाजिक, नाटक लिखे जाते तो उनको रंगमंच पर उतारना शायद असम्भव हो जाता। रंगमंच पर दैनिक जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन हो इसकी कल्पना भी दर्शक समाज नहीं कर सकता था। लोकरुचि में इतनी वड़ी क्रान्ति करके सिनेमा ने स्वाभाविक अभिनय की कला को रंगमंच पर ला बैठाया। तो क्या यथार्थवादी एमेचर रंगमंच ही को सिनेमा कुछ दे सका है ? यदि हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंच के उत्थान में सिनेमा की केवल इतनी ही उपयोगिता रहती तो उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं होता, क्योंकि कोई भी यथार्थवादी रंगमंच, कम से कम भारतवर्ष में, जीवन के यथातथ्य चित्रण में सिनेमा से वाजी नहीं ले जा सकता। लेकिन

में ऊपर कह आया हूँ के कि हिन्दी रंगमंच की तीन धाराओं में से एक यानी नागरिक, व्यावसायिक रंगमंच यथार्थवादी नहीं होगी। उसकी विशेषताएँ होंगी काव्य सुलभ रसानुभूति से परिपूर्ण वातावरण, मर्मस्पर्शी और सहज स्वाभाविकता एवं शास्त्रोक्त मुद्राओं से सम्पन्न अभिनय और नृत्य, संगीत और नयनाभिराम दृश्यों से अलंकृत प्रदर्शन (Spectacle)। ये विशेषताएं नागरिक रंगमंच को न सिर्फ संस्कृत रंगमंच से मिलेंगे, वल्कि भारतीय सिनेमा की उस नवीन शैली से भी जिनके उदाहरण के तौर पर विद्यापति, वसन्तसेना, नर्तकी, रामराज्य, पुकार और अनेक पौराणिक फिल्मों का नाम लिया जा सकता है। इस शैली से नागरिक रंगमंच भव्य वातावरण प्रस्तुत करने के उपाय ले सकता है। प्रकाश और अन्धकार का समुचित व्यवहार संवेदना के सम्वर्धन में कैसे किया जा सकता है, भावोद्रेक जनाने के लिए क्योंकर सम्वाद में गति लाई जा सकती है, गीत और नृत्य कैसे स्थलों में प्रभावोत्पादक हो सकते हैं इन सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर सिनेमा की इस नई शैली ने प्रचुर प्रयोग किये हैं, नागरिक रंगमंच जिससे यथेष्ट लाभ उठायेगा।

अतः यदि भारतीय सिनेमा को भावी हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंच की प्रयोगशाला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। रेडियो की छाप भी उस पर निश्चय ही रह जायगी। हिन्दी साहित्य का इतिहास मुक्त कंठ से यह स्वीकार करेगा कि आल इंडिया रेडियो ने हिन्दी में नाट्य रचना को फिर से सार्थकता प्रदान की। उसने न सिर्फ नये रूपककारों को प्रकाश में ला वैठाया वल्कि पुरानी कृतियों के लिए भी एक नवीन क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया। उसने एक नई मांग पेश की जिसके जवाव में हिन्दी लेखक को अपनी कलम साहित्य के इस विस्मृत क्षेत्र में चलानी पड़ रही है। इसके अतिरिक्त रेडियो रूपक की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिन्हें रंगमंच के लिए नूतन उपकरण माना जा सकता है। पार्श्व संगीत की टेकनीक को रेडियो ने खूब निखार दिया है। अभिनय कला में स्वर-संधान की महत्ता रेडियो ने ही पहले पहल स्थापित की है और भाव-भंगिमा के अभाव में स्वर में चित्रोपमता की क्षमता ला देना यह अभिनय कला को रेडियो की एक

स्थायी देन है। भावी रंगमंच इन नये उपकरणों को निश्चय ही अपनाएगा।

× × ×

उत्तरी भारतवर्ष में नाट्य साहित्य का लोप आप ही आप नहीं हुआ था मुसलमानी राज्य में धार्मिक कट्टरता ने मूर्तिकला और रंगमंच दोनों पर प्रहार किया। राज्य का प्रश्रय मिला नहीं और जनता भयाक्रान्त हो मनोरंजन से विमुख हो गई। यों लगभग एक हजार वर्ष तक उत्तरी भारत में तो नाटक कोरे अध्ययन की सामग्री बनकर रह गया।

अब यदि एक हजार वर्ष बाद हम रंगमंच और रूपक साहित्य को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, तो यह क्रिया भी आप ही आप नहीं होगी। कविता भावुक हृदय से अनायास ही बह निकलने वाली निर्झरिणी हो सकती है, यद्यपि उसकी तह में भी सामाजिक प्रेरणाओं का दबाव होता है। किन्तु नाट्य साहित्य का रंगमंच की मांग से सीधा सम्बंध है और रंगमंच स्वतः ही नहीं बनता। राष्ट्र और समाज, संस्कृति क्षेत्र के नेता और शासन, सभी को परम्परा, परिस्थिति और उपकरणों को ध्यान में रखते हुए नये रंगमंच की रूप-रेखा निश्चित करनी है, और जहां तक सम्भव हो उस निश्चित योजना के अनुसार साधन एकत्रित कर, रंगमंच के आन्दोलन को चलाना है। ऐसे आन्दोलन के आग्रह से लेखक समाज बच नहीं सकेगा, और कुछ ही समय में एक समृद्ध नाट्य साहित्य की नींव पड़ जायेगी।

पिछले पृष्ठों में रंगमंच की जो त्रिमुखी योजना मैंने उपस्थित की है, वह एक संकेत है इसी मार्ग की ओर। मैं यह कहने की धृष्टता नहीं करूंगा कि हिन्दी भाषा-भाषी समाज इस संकेत को आंख मूंद कर मान ले, यद्यपि मेरा अनुभव है कि रंगमंच के जिस त्रिमुखी विकास की मैं कल्पना कर रहा हूँ वही दिन-प्रति-दिन स्पष्ट होती हुई सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का चरमोत्कर्ष हो सकता है।

यदि यह न भी हो तो भी मेरा यह तो पक्का विश्वास है कि जनता, शासन और सांस्कृतिक संस्थाओं को कुछ इसी तरह का बहुमुखी आन्दोलन खड़ा करना होगा। हमारा राष्ट्रीय रंगमंच एकमुखी नहीं हो सकता और न होना ही चाहिये।

इसीलिए हमारा नाट्य साहित्य भी कई विभिन्न शैलियों का संग्रह होगा, एक ही परिपाटी का उत्थानमात्र नहीं।

लेकिन मुझे लगता है मानो हम आधुनिक हिन्दी के नाटककार बरबस ही एक ही शैली की तलाश में भटक रहे हों। जो नये प्रयोग हो रहे हैं उनके पीछे रंगमंच की सामर्थ्य नहीं। इसलिए हमें रंगमंच की पद्धतियां भी निर्धारित करनी हैं और उसके साथ ही साथ नाट्य साहित्य की शैलियां भी। दोनों कार्य समानान्तर रेखाओं की तरह चलें। यह सोचना कि पहले रंगमंच तैयार हो जायें तब नाटक लिखे जायें या नाटकों की रचना करा कर रंगमंच को तदनुसार तैयार कर लें, भारी प्रवंचना होगी।

लेकिन मैं लेखक समाज को हुक्म नहीं देना चाहता कि ऐसा लिखो और ऐसा नहीं। कलाकार को जबरदस्ती आदेश देने की क्षमता भला किसमें है ?

पर हमारा राष्ट्र, निर्माण की पहली सीढ़ियों पर है। ऐसे क्षण में लेखक समाज द्वारा समय और शक्ति का अपव्यय बहुत अखरता है। अपव्यय दो तरह का आजकल हो रहा है, १. नयी पीढ़ी के उदीयमान साहित्यकार मुक्तक काव्य की झड़ी लगाये जा रहे हैं, मानो उन्होंने छायावादी परम्पराओं को रीतिकालीन सवैयों की परिपाटी की भाँति साँचे ढालने वाली मशीन बना देने का व्रत लिया हो। नाटक का क्षेत्र है वीरान लेकिन उधर कौन नजर डाले ? २. जो नाटककार हैं वे प्रायः शून्य में सेज लगाकर किसी काल्पनिक रंगमंच की प्रिया से मिलन की तैयारियाँ कर रहे हैं। कुछ लोग हैं कि कोरे संवादों के चमत्कार को नाट्यगति (action) का स्थान देकर संतुष्ट हो जाते हैं, कुछ के हरेक पात्र में एक ही व्यक्तित्व यानी लेखक का निजी व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है, कुछ का कथानक इतना सपाट होता है कि प्रथम दृश्य में ही अन्तिम दृश्य की झलक मिल जाती है और कुछ के पात्र भाषणों का तांता बांधते हैं तो रुकने का नाम ही नहीं लेते।

प्रतिभा और समय के इस अपव्यय को रोकने के लिए लेखक समाज को सामूहिक इच्छाशक्ति का प्रयोग करना होगा। यह सामूहिक इच्छाशक्ति साहित्यकारों की संस्थाओं द्वारा स्वीकृत और शासन

द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त योजनाओं के रूप में प्रकट की जा सकती हैं। इन योजनाओं में श्रेष्ठ नाटकों पर पुरस्कार, नाटकों के अभिनीत कराने का प्रबन्ध, उदीयमान नाटककारों को आर्थिक सहायता, इन सब का विधान तो होगा ही, पर इनके साथ ही साथ नाटकलेखन की कला के नियमों का संकलन और नाटककारों के लिए शिक्षा-केन्द्रों का आयोजन भी होगा।

मेरे भावुक साहित्यकार मित्र चौंकें नहीं। मैं कला को वन्धन-विवश और साहित्यिक नेताओं से आक्रान्त दासी का रूप देने की तदवीर नहीं कर रहा हूँ। लेकिन कोई मुझे वताये कि कौन-सी उत्कृष्ट कला नियमवद्ध नहीं और किस कला के साधकों को अध्ययन और अध्यवसाय के बिना कोरी भावप्रवणता के आधार पर सफलता मिली है? काव्य प्रणयन में हाथ लगाने से पूर्व कवि छन्दःशास्त्र, अलंकार और पूर्ववर्ती कवियों का थोड़ा बहुत अध्ययन करता है। समस्त प्राचीन नाटच साहित्य इसका साक्षी है, किन्तु हिन्दी में नाटककारों के पथ-प्रदर्शन के लिए कोई उपयुक्त रीतिग्रन्थ ही नहीं है। प्राचीन संस्कृत नाटचशास्त्र का अध्ययन करने का हम लोग कष्ट नहीं उठाते और यह भी ठीक है कि वर्तमान परिस्थिति में, उसी परम्परा के रंगमंच के अभाव में प्राचीन संस्कृत नाटचशास्त्र को विना कतर-व्योंत किये हम ज्यों का त्यों अपना भी नहीं सकते। अधिकतर लेखक आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों इब्सन, गाल्सवर्दी, शा, इत्यादि से प्रभावित होकर ही कलम उठाते हैं। लेकिन इन पाशचात्य नाटककारों के पीछे अविच्छिन्न नाटच साहित्य की परम्परा है जिसका उद्गम है प्राचीन यूनानी नाटक। साथ ही उन्हें प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक शास्त्रकारों और साहित्य नियामकों की धरोहर उपलब्ध है। पाश्चात्य नाटककार प्राय: थ्रीयूनिटीज, ट्रेजेडी के द्वन्द्वात्मक आधार, चारित्रिक उत्थान, कथानक में चरमविन्दु का समावेश, आदि सिद्धान्तों से परिचित होते हैं। अरस्तू, वेनजान्सन, गेटे, ब्रैडले और कतिपय आधुनिक समालोचकों ने नाटचकला के विषय में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं वे उदीयमान पाश्चात्य नाटककार के लिए एक मानसिक पृष्ठभूमि का काम देते हैं। यदि मैं कहूँ कि कुछ ऐसी ही मानसिक पृष्ठभूमि की हमारे यहां

भी आवश्यकता है तो इसे सृजनात्मक प्रवृत्ति पर शास्त्रीय बन्धन लगाने की चेष्टा न समझा जायेगा ।

जैसे हमारे रंगमंच को बहु मुखी होना है, एक शैली में ही सीमित नहीं रहना है, वैसे ही हमारा नाट्य साहित्य भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक होगा उसकी भी शैली बहुमुखी होगी। तदनुसार ही वह मानसिक पृष्ठभूमि वह नियमों और विधियों का संकेत जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, विधि प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिबिम्ब होगी । जो इन सिद्धान्तों, नियमों और विधियों का संकलन और सम्पादन करें उन्हें अपनी दृष्टि रंगमंच की भावी रूपरेखा पर रखनी है ।

उदाहरणतः नागरिक रंगमंच के लिए नाटकों में काव्यात्मक शैली द्वारा रसपरिपाक,--यह परम्परा संस्कृत नाटकों से ली जा सकती है । वस्तुतः प्राचीन नाटक दृश्य काव्य था, यानी दर्शकों के लिए वह कविता का अभिनय द्वारा निरूपण था, जीवन का दर्पणतुल्य प्रदर्शन नहीं । आज के व्यावसायिक रंगमंच पर भी ऐसे ही नाटक शायद अधिक सफल हो सकें। उस शैली को आधुनिक प्रतीकवादी नाटककार मेटरलिंक, जेम्सबेरी, लेडी ग्रेगरी इत्यादि के वातावरण-प्रधान नाटकों से बहुत कुछ मिल सकता है । देहाती रंगमंच के लिए जो नाटक लिखे जायँ उनमें भी प्राचीन संस्कृत और यूनानी नाटकों से कुछ पद्धतियाँ समाविष्ट की जा सकती हैं, यथा, सूत्रधार और विष्कम्भक को यूनानी कोरस की पद्धति में ढालकर एक नवीन प्रकार के रंगनायक की सृष्टि की जा सकती है जो यवनिका और पर्दों के बिना ही नाटक की पृष्ठभूमि और भिन्न अंकों का एक दूसरे से सम्बन्ध प्रकाशित कर सके। साथ ही उस सूत्रधार के कथनों में भी नाटक की काव्यशैली और गीतों का समावेश हो । यथार्थवादी रंगमंच का नाट्य साहित्य मुख्यतः समस्यामूलक और आधुनिक विचार धारा और संघर्षपूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक होगा। किन्तु साथ ही सिनेमा की प्रभाववादी शैली और रेडियो रूपक की संकेतवादिता दोनों ही का यथार्थवादी नाट्य साहित्य पर स्थायी प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार उदीयमान रंगमंच की विभिन्न शाखाओं की मांगों को

दृष्टिकोण में रखते हुए नाटय लेखन कला के कुछ बुनियादी नियमों का संकलन और प्रतिपादन लेखकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा। यह न समझा जाय कि मैं नाटय साहित्य के प्रणयन के पूर्व रूढ़ियों की स्थापना कराना चाहता हूँ। इन नियमों की आवश्यकता संकेत के तौर पर है और ज्यों-ज्यों नाटय साहित्य की समृद्धि और विकास होते जायेंगे त्यों-त्यों इन सिद्धान्तों में भी परिवर्तन और उनका परिमार्जन होता चलेगा। नियमों को मैं मात्र प्रयोजन के रूप में देखता हूँ, अचल मान्यताओं के रूप में नहीं। प्रतिभा को जब नियमों के प्रकाश द्वारा प्रगति की राह मिल जायेगी तो वह अपने में अन्तर्हित ज्योति को उकसा कर अपने आप ही मार्ग निर्देशन कर लेगी। लेकिन अभी तो अन्धे की भांति टटोलना पड़ रहा है, साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग की रूप-रेखा जिसमें कविता की भांति केवल भावोद्रेक ही सृजन का कारण नहीं हो सकता, हिन्दी में स्थापित नहीं हो पायी है। संस्कृत नाटक की परम्पराएँ लुप्त हो गईं। इसलिए यदि ऐसे निर्देशन का विधान नहीं किया जायेगा तो यही नहीं होगा कि इने-गिने नाटककार अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग लेकर बैठ जायेंगे, बल्कि नवयुवक साहित्यकार इस अनजाने-से पथ पर अग्रसर भी न होंगे। इसलिए मैं तो यहां तक कहने के लिए तैयार हूँ कि इस उपेक्षित अंग को सम्पन्न बनाने के लिए हमारी प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को नाटच कला के शिक्षाकेन्द्र चलाने चाहिये। अमेरिका में तो कुछ विश्वविद्यालयों में पाक-शास्त्र की भी डिग्री होती है, नाट्यकला का स्थान तो इससे कहीं ऊँचा है, और भारतीय शास्त्रों में ६४ कलाओं की प्रमुख श्रेणी में इसकी गिनती है। यदि कोई विश्वविद्यालय नाट्यकला में बी० ए० (कला स्नातक) की डिग्री की व्यवस्था करे तो इससे बढ़कर उपाधि कला के क्षेत्र में क्या हो सकेगी ?

ऊपर लिखे विचारों में रंगमंच और नाट्यकला की ही सीमित आवश्यकताओं का आग्रह दीख पड़ेगा और शायद कुछ पाठक मुझे याद दिलाना चाहें कि रंगमंच और नाटक, समाज की प्रगति और प्रवृत्ति पर निर्भर रहते हैं। मैं इस पहलू से अवगत हूँ और एक नूतन योजना की ओर संकेत करने का साहस भी मुझे इसीलिए हुआ है कि भारतीय

समाज विशेषतः हिन्दी भाषा-भाषी समाज सदियों बाद पुनः सामूहिक मनोविनोद को एक सुसंस्कृत और गम्भीर कला के रूप में ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है। सामूहिक मनोरंजन का सब से कलापूर्ण, सुरुचि-सम्पन्न और स्थायी रूप है रंगमंच। हमारा समाज अपने भिन्न-भिन्न स्तरों में मनोरंजन को इस सुव्यवस्थित रूप में देखना चाहता है। राजनैतिक स्वतंत्रता और सामाजिक चेतना दोनों ने हमें अपनी सांस्कृतिक इच्छाओं से अवगत करा दिया है। ये इच्छाएं एक उन्मुक्त व्यक्तित्व का उठान हैं, वे किसी कुण्ठित व्यक्तित्व की अपने से बचने की चेष्टाएं नहीं। साथ ही अपनी परम्पराओं और उपेक्षित सांस्कृतिक साधनों के प्रति सचेष्ट जागरूकता भी स्पष्ट होती जा रही है। भारत-नाटचम् मनीपुरी नृत्य, संथाली नृत्य, नौटंकी, सिनेमाओं में प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक, देहाती तर्जों के गीत, सभी को जन रुचि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान मिल रहा है, और ये सभी रंगमंच के सुव्यवस्थित माध्यम की राह देख रहे हैं।

इसलिए हम रंगमंच के चाहे जो वर्गीकरण करें और नाटच साहित्य के मार्ग निर्धारित करने के लिए चाहे जिन नियमों का प्रतिपादन करें, इन वर्गों और नियमों को सामाजिक परिस्थितियों और जनता की रुचि का अनुमोदन करना ही होगा। मेरी दृष्टि में निकट भविष्य का हिन्दी रंगमंच और नाटच साहित्य प्रायः तीन प्रमुख शैलियों में अवतरित होगा और हो रहा है। लेकिन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां एवं प्रेरणाएं परिवर्तनशील हैं, और सृजनशक्ति का मूलस्रोत चिरन्तन से प्रवाहशील है। कौन योजनाकार इस अबाध प्रगति को नियमों की चहारदिवारी में बांध सकता है ?

दृष्टिकोण में रखते हुए नाट्य लेखन कला के कुछ बुनियादी नियमों का संकलन और प्रतिपादन लेखकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा। यह न समझा जाय कि मैं नाट्य साहित्य के प्रणयन के पूर्व रूढ़ियों की स्थापना कराना चाहता हूँ। इन नियमों की आवश्यकता संकेत के तौर पर है और ज्यों-ज्यों नाट्य साहित्य की समृद्धि और विकास होते जायेंगे त्यों-त्यों इन सिद्धान्तों में भी परिवर्तन और उनका परिमार्जन होता चलेगा। नियमों को मैं मात्र प्रयोजन के रूप में देखता हूँ, अचल मान्यताओं के रूप में नहीं। प्रतिभा को जब नियमों के प्रकाश द्वारा प्रगति की राह मिल जायेगी तो वह अपने में अन्तर्हित ज्योति को उकसा कर अपने आप ही मार्ग निर्देशन कर लेगी। लेकिन अभी तो अन्धे की भांति टटोलना पड़ रहा है, साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग की रूप-रेखा जिसमें कविता की भांति केवल भावोद्रेक ही सृजन का कारण नहीं हो सकता, हिन्दी में स्थापित नहीं हो पायी है। संस्कृत नाटक की परम्पराएँ लुप्त हो गईं। इसलिए यदि ऐसे निर्देशन का विधान नहीं किया जायेगा तो यही नहीं होगा कि इने-गिने नाटककार अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग लेकर बैठ जायेंगे, बल्कि नवयुवक साहित्यकार इस अनजाने-से पथ पर अग्रसर भी न होंगे। इसलिए मैं तो यहां तक कहने के लिए तैयार हूँ कि इस उपेक्षित अंग को सम्पन्न बनाने के लिए हमारी प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को नाट्य कला के शिक्षाकेन्द्र चलाने चाहियें। अमेरिका में तो कुछ विश्वविद्यालयों में पाक-शास्त्र की भी डिग्री होती है, नाट्यकला का स्थान तो इससे कहीं ऊँचा है, और भारतीय शास्त्रों में ६४ कलाओं की प्रमुख श्रेणी में इसकी गिनती है। यदि कोई विश्वविद्यालय नाट्यकला में बी० ए० (कला स्नातक) की डिग्री की व्यवस्था करे तो इससे बढ़कर उपाधि कला के क्षेत्र में क्या हो सकेगी ?

ऊपर लिखे विचारों में रंगमंच और नाट्यकला की ही सीमित आवश्यकताओं का आग्रह दीख पड़ेगा और शायद कुछ पाठक मुझे याद दिलाना चाहें कि रंगमंच और नाटक, समाज की प्रगति और प्रवृत्ति पर निर्भर रहते हैं। मैं इस पहलू से अवगत हूँ और एक नूतन योजना की ओर संकेत करने का साहस भी मुझे इसीलिए हुआ है कि भारतीय

समाज विशेषतः हिन्दी भाषा-भाषी समाज सदियों बाद पुनः सामूहिक मनोविनोद को एक सुसंस्कृत और गम्भीर कला के रूप में ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है। सामूहिक मनोरंजन का सब से कलापूर्ण, सुरुचि-सम्पन्न और स्थायी रूप है रंगमंच। हमारा समाज अपने भिन्न-भिन्न स्तरों में मनोरंजन को इस सुव्यवस्थित रूप में देखना चाहता है। राजनैतिक स्वतंत्रता और सामाजिक चेतना दोनों ने हमें अपनी सांस्कृतिक इच्छाओं से अवगत करा दिया है। ये इच्छाएं एक उन्मुक्त व्यक्तित्व का उठान हैं, वे किसी कुण्ठित व्यक्तित्व की अपने से बचने की चेष्टाएं नहीं। साथ ही अपनी परम्पराओं और उपेक्षित सांस्कृतिक साधनों के प्रति सचेष्ट जागरूकता भी स्पष्ट होती जा रही है। भारत-नाटयम् मनीपुरी नृत्य, संथाली नृत्य, नौटंकी, सिनेमाओं में प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक, देहाती तर्जों के गीत, सभी को जन रुचि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान मिल रहा है, और ये सभी रंगमंच के सुव्यवस्थित माध्यम की राह देख रहे हैं।

इसलिए हम रंगमंच के चाहे जो वर्गीकरण करें और नाटय साहित्य के मार्ग निर्धारित करने के लिए चाहे जिन नियमों का प्रतिपादन करें, इन वर्गों और नियमों को सामाजिक परिस्थितियों और जनता की रुचि का अनुमोदन करना ही होगा। मेरी दृष्टि में निकट भविष्य का हिन्दी रंगमंच और नाटय साहित्य प्रायः तीन प्रमुख शैलियों में अवतरित होगा और हो रहा है। लेकिन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां एवं प्रेरणाएं परिवर्तनशील हैं, और सृजनशक्ति का मूलस्रोत चिरन्तन से प्रवाहशील है। कौन योजनाकार इस अबाध प्रगति को नियमों की चहारदिवारी में बांध सकता है ?